प्रेमचन्द

सेवासदन

[पाठ्य-संस्करण]

भूमिका तथा परिचय

विद्यानिवास मिश्र, एम० ए०

सरस्वती प्रेस बनारस

प्रेमचन्द

जीवनी

भारत के अमर कथाकार प्रेमचन्द का जन्म ३१ जुलाई सन् १८८० में बनारस के पास लमही गाँव में हुआ था। उनके पिता मुंशी अजायबलाल निम्न-मध्यवर्ग के कुलीन कायस्थ थे, मुंशीगिरी की परम्पराओं में पगे हुए। घर पर थोड़ी बहुत खेती और जमींदारी भी थी, पर अपनी कायस्थगिरी की आन रखने के लिये मुन्शी अजायबलाल डाकखाने में मुन्शी थे। प्रेमचन्द का नाम उन्होंने नयी आशा में धनपतराय रखा था और प्यार का नाम 'नवाब'। ये दोनों नाम अपने अर्थों के साथ इतने पीछे छूट गये कि लोग इन नामों को पुस्तकों के द्वारा ही अब याद कर सकते हैं। परिवार का वातावरण स्वभावतः बाहरी टीमटाम और भीतरी अभाव का था। उसके ऊपर प्रेमचन्द को रोगिणी माँ मिलीं, जो किसी तरह सात वर्ष तक उन्हें अपना स्नेहांचल दे सकीं। प्रेमचन्द के जीवन में दुःख इसी से बहुत सवेरे ही आ गया। एक ओर मातृ-वियोग, दूसरी ओर नयी माँ का आगमन, इन दोनों घटनाओं ने उनके जीवन में अन्तःपीड़ा और निविड़ संघर्ष को सदा के लिए बसा दिया। विमाता के प्रति यों अपना कर्तव्य निभाने में कभी उन्होंने चूक नहीं की, पर उधर से सहज स्नेह का अभाव उन्हें जीवन भर दुखाता रहा। इस दुःख ने उनकी आत्मा में विद्रोह की सृष्टि की, जिन रूढ़ियों के कारण उनका सुनहला बचपन दुःख से मिला, उनके विरुद्ध उनकी आत्मा में आगे चलकर क्रन्दन उठा, उस क्रन्दन की गूँज उनकी 'प्रेरणा', 'अलग्योझा', 'घरजमाई' जैसी कहानियों और 'निर्मला' तथा 'गबन' जैसे उपन्यासों में मिलती है। निम्न मध्यवर्ग की मिथ्याभिमानता, अपव्ययिता और नाशिनी प्रतिस्पर्द्धाशीलता के मार्मिक चित्र उनकी इन्हीं तीव्र अनुभूतिओं के परिणाम हैं।

कुलागत परम्परा के अनुसार प्रेमचन्द की शिक्षा उर्दू-फारसी से शुरू हुई और मननशील बालक को नीरस और निर्दय शिक्षा-पद्धति से बड़ी अरुचि होने लगी। उस समय की प्राइमरी शिक्षा लगभग डिकेन्स के समय के इंगलैंड की प्रारम्भिक पाठशालाओं की-सी ही स्थिति में थी। इसी से प्रेमचन्द भी डिकेन्स की तरह बचपन से ही मदरसे के बाहर जीवन की पाठशाला में अधिक रमने लगे, इसका यह अर्थ नहीं कि पुस्तकों से उन्हें विरक्ति होने लगी, बल्कि ठीक उल्टे अध्ययन की ओर उनकी आसक्ति बचपन ही से थी और कथा-साहित्य के लिए उनका प्रेम व्यसन बन गया था। जब उनके बाप का तबादला गोरखपुर हुआ और वे शहरी मिडिल स्कूल में दाखिल हुए, तो उन्होंने एक तम्बाकूफ़रोश के लड़के से दोस्ती इसलिए की कि 'तिलिस्मे-होशरूबा' पढ़ने को मिले। तेरहवें वर्ष में पहुँचते-पहुँचते रतननाथ सरशार, शरर और रेनाल्ड के उपन्यास वे चाट चुके थे। उपन्यास पढ़ने का चाव यहाँ तक बढ़ा कि रेती चौक के एक दूकानदार के यहाँ इस शर्त पर दलाली स्वीकार की कि ये जाकर उसकी कोर्स की किताबें लड़कों को बेंच आयेंगे और एवज़ में वह उन्हें नये-नये उपन्यास उधार पढ़ने को दे दिया करेगा। इन उपन्यासों के स्वाध्याय ने उन्हें कल्पनाशील और स्वप्नशील बना दिया। हाँ इस व्यसन ने उन्हें रूखे विषयों से उदासीन और विमुख बना दिया, जिसके कारण गणित में वे बेहद कमजोर हो गये। गणित की यह कमजोरी जीवन भर बनी रही और इसलिए वे रुपये-पैसे के लेन-देन में तो अकुशल रहे ही, अपने साहित्य में भी वैज्ञानिक का-सा निर्मम निदान और विश्लेषण देने में भी असमर्थ रहे। नग्न यथार्थवाद का इसी से उसमें नितान्त अभाव है।

पंद्रहवें वर्ष में पदार्पण करते-करते उनके जीवन में नया अध्याय शुरू हो जाता है, यद्यपि अध्ययन की दृष्टि से वे अभी नवीं कक्षा में ही हैं, तथापि एक ही साल के भीतर विवाह और पिता की मृत्यु, वे दो घटनाएँ ऐसी घटीं कि उनकी उमगती हुई आकाक्षाओं और उसके ऊँचे संकल्पों को एकदम धराशायी कर दिया। ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की ललक जो

उनके हृदय में घर कर गयी थी, उसके सामने एक अप्रत्याशित बाधा आई। बाल-विवाह तो एक दायित्व था ही, पिता की मृत्यु के बाद विमाता और सौतेले भाई के पोषण का दायित्व बहुत भारी था। परन्तु कर्म-शक्ति में अटूट विश्वास रखनेवाले प्रेमचन्द निराश तो हुए, पर हताश न हुए। गोरखपुर से वे बनारस चले गये और ५) की ट्यूशनी करके जैसे-तैसे क्वींस कालेज से मैट्रिक्यूलेशन द्वितीय श्रेणी में पास किया, साथ-साथ शहर से पाँच मील पैदल आना जाना लगा रहा, रात-रात गंभीर अध्ययन और परिवार का पोषण भी। अभाव के कष्ट में वे इतने पिस गये कि कहीं बहलाव के लिए गुंजाइश नहीं थी। रूखे सूखे भोजन और घरेलू विरसता से कहीं शरण उन्हें ढूँढ़े नहीं मिलती थी, तो वे एकाध रुपये उधार लेकर चटपटे भोजनों से तृप्ति ढूँढ़ने लगे। यहीं से भोजन के असंयम का पाठ सीखा और इसका उन्होंने आगे बहुत मँहगा मूल्य चुकाया। मैट्रिक्यूलेशन के बाद बहुत दौड़धूप के बाद इण्टरमीडिएट में जो दाखिल भी हुए तो जूझकर भी गणित के कारण लगातार दो बार फेल हुए और एकदम हताश-से हो गये। उन्हें लगा कि उनके सारे अरमान सदा के लिए धूल में मिल गये। इसी बीच विमाता और पत्नी के बीच वैमनस्य भी जोर पकड़ता रहा। विमाता से उन्हें कभी स्नेह और आश्वासन नहीं मिला और न उपेक्षित पत्नी से मीठा प्यार। दोनों उन पर अविश्वास करती थीं और दोनों उन्हें फटकारने से बाज नहीं आती थीं।

इस निराशा में डूबते-उतराते उन्हें एक दिन सन् १८९९ में एक दयालु हेडमास्टर मिले जिन्होंने उन्हें १८) मासिक वेतन पर सहायक अध्यापक रख लिया। यद्यपि यह कार्य उनकी ऊँची आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं था और उनकी रुचि का भी नहीं था, पर इससे उन्हें बड़ा सहारा मिला। अपने स्वप्नों में उन्हें इतना विश्वास था कि उनकी मूर्ति के लिए उन्हें कटुतर से कटुतर यथार्थ से जूझने में सुख मिलता था। इस तनख्वाह का आधा वे घर देते और आधे में अपनी गुजर करते थे। इतना स्वार्थ-त्याग करने पर भी वे घरवालों को सन्तुष्ट नहीं कर पाते थे, सौतेली माँ

के लिए उनका यह बलिदान उनकी पत्नी को चुभने लगा और अबोध स्त्री इसे अपमान समझने लगी। धीरे-धीरे वह उनसे दूर होती गयी और इसका गहरा विषाद प्रेमचन्द के मन में भरता गया। पत्नी को अपने आदर्शों तक लाने में उन्हें जो विफलता हुई, इसका अनुताप उनकी 'जीवन का शाप' और 'दो सखियाँ' जैसी पिछली कहानियों में मिलता है, पर तत्काल इस विफलता की बड़ी तीखी प्रतिक्रिया उनके मन में हुई और अपनी पत्नी से उनका दिल फटता ही गया। सन् १९०२ में इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज में भरती हुए और वहाँ से उन्होंने सन् १९०४ में अपनी लगन और प्रतिभा के बल पर प्रथम श्रेणी में जे० टी० सी० की परीक्षा पास की। प्रिंसिपल ने प्रसन्न होकर वहीं माडल स्कूल में उन्हें हेडमास्टरी दी। इस अवधि में उनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रस्फुटन भी प्रारम्भ हो गया था। सन् १९०२ में 'प्रेमा' और सन् १९०४ में 'हम खुरमा हम सबाब' नामक उपन्यास उनकी कलम से उर्दू में आया। इन प्रारंभिक रचनाओं में कृत्रिम शैली और अद्भुत् घटना जाल मिलते हैं। ट्रेनिंग कालेज की अवधि में उनका अध्ययन भी बहुत बहुमुखीन था और विवेचन बहुत जागरूक होने लगा था। दर्शन, उपन्यास, राजनीति और समाजशास्त्र में उनकी अभिरुचि विशेष थी; एक ओर शैली के क्षेत्र में सरशार के पीछे वे फिदा हो गये थे, तो दूसरी ओर आचार शास्त्र के गहन अध्ययन से उनका दृष्टिकोण भी बदलने लगा था। मनुष्य की सुजनता और सद्भावना में उनका विश्वास दृढ़ हो चला। जब सन् १९०५ में कानपुर वे तबदील होकर आये तो उर्दू की प्रसिद्ध पत्रिका 'ज़माना' के संपादक मुंशी दयानारायण निगम के निकट संपर्क में रहने का उन्हें सुअवसर मिला। तीन वर्ष तक वे कानपुर रहे और ये तीन वर्ष उनकी ज़िंदगी के सबसे स्पृहणीय वर्ष थे, साहित्य-साधना की पहली तैयारी उन्होंने यहीं की और साथ ही जीवन का रस भी सबसे अधिक उन्हें यहीं मिला। उनके सरल विनोदी स्वभाव को पूर्ण परितृप्ति मिली। मुंशी दयानारायण निगम उनसे वय में छोटे होते हुए भी उनके सच्चे हितैषी और पथदर्शक बने। प्रेमचन्द ने उनकी

राय की कद्र आजीवन की और अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख में भी उन्हें सहभागी बनाया। कानपुर में प्रेमचन्द विभिन्न शैलियों पर हाथ माँजते रहे। अभी उनमें परिपक्वता नहीं आयी थी। अभी वे सत्संगति से पाने में अधिक व्यस्त थे, देने के लिए एकान्त साधना और मनोमन्थन का अवसर उन्हें नहीं मिला था।

तीन वर्ष बाद सन् १९०८ में जब उनकी पदोन्नति मदरसों के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर के पद पर हुई और साथ ही उनका तबादला हमीरपुर के लिए हुआ, तब उन्हें उल्लास से भरे जीवन से बिलगाव तो जरूर मिला, पर साथ ही भारतीय खेतिहर की आत्मा को पहचानने और उसके कण्ठ में रुँधी हुई वाणी को सुनने का सुलाभ भी प्राप्त हुआ। बुन्देलखण्डी देहातों के दौरे में उन्हें देश की सोई मानवता की नई अँगड़ाई मिली। छः साल तक लगातार महोबा के आल्हैत प्रदेश में रहकर उन्होंने सोये स्वाभिमान को जगाने और साहस को उभाड़ने का कार्य भी किया। 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'विक्रमादित्य का तेगा' सरीखी कहानियाँ यहीं लिखी गयीं। इसी अवधि में 'सोजेवतन' नाम से देश-प्रेम से भरी पाँच कहानियों का संग्रह भी उनका प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के कारण अँग्रेजी सरकार के वे कोपभाजन बने। साम्राज्यवाद वाणी का मूक विद्रोह सह न सका, बड़ी मुश्किल से अपने डिप्टी इन्सपेक्टर की बदौलत उनकी नौकरी पर आँच न आने पायी, केवल 'सोजे-वतन' की ५०० प्रतियों के अग्नि समर्पण और भविष्य के लिए चेतावनी तक दण्ड सीमित रह गया। अपनी इस परवशता की ग्लानि उन्हें अत्यधिक हुई, पर उन्होंने इस दुःख को दबाकर रखा। इसी के साथ उन्हें अपना दुलार का नाम 'नवाबराय' भी छोड़ना पड़ा और लिखने के लिए उन्हें दूसरा छद्मनाम 'प्रेमचन्द' अपनाना पड़ा। यह दूसरा नाम अपनाना ही उनके जीवन में तीसरे अध्याय का सूत्रपात है। 'नवाबराय' नाम के साथ भावुक स्वप्नशीलता भी बिदा हो गयी और प्रेमचन्द आदर्शवादी होते हुए यथार्थ से हार्दिक तादात्म्य पाने लगे; मानों गोधूलि की ललछौंहीं धुन्ध के बीच में से नये 'प्रेमचन्द' का उदय

हुआ। हाँ, हमीरपुर जिले का लंबा प्रवास साहित्य के लिए उर्वर तो सिद्ध हुआ, पर उनके शरीर के लिए उतना ही ऊसर और संतापकारी निकला। यहीं उनके पेट की खराबी शुरू हुई, जो अन्त में उनके प्राण लेकर ही रही।

घर की व्यथा इसी बीच पकने लगी और अकुलाकर उन्हें अपनी पत्नी को उनके मायके सदा के लिए भेज देना पड़ा। जीवन उनका इतना अशांत और कड़ुवा हो गया कि वे सहानुभूति के लिए तड़प उठे। यों मित्रों की हमदर्दी बराबर उन्हें प्राप्त थी, पर इस हमदर्दी में आगे बढ़ने का बल नहीं था। अपनी बिजली से देश में बिजली भरने का जो संकल्प रखता हो, दीपक की तरह जलते रहने में जो अपना आदर्श पाता हो और साहित्य के माध्यम के द्वारा जो देश में सत्य की चेतना जगाने आया हो, उसे सहारा देने के लिए बहुत बड़े धैर्य, बलिदान और आत्मसमर्पण की आवश्यकता थी। भाग्यवश प्रेमचन्द की यह आवश्यकता शिवरानी देवी में पूरी हुई, जो उनकी द्वितीय संगिनी बनीं और जिन्होंने प्रेमचन्द को इतना ऊँचा उठाने में बहुत बड़ा योगदान दिया। शिवरानी स्वयं बाल-विधवा थीं और उन्हीं परम्पराओं द्वारा उत्पीड़ित थीं, जिनके उत्पीड़न से प्रेमचन्द का हृदय छलनी हो उठा था। अपने तत्कालीन समाज में अभिजात मान्यताओं के विरुद्ध विधवा-विवाह करके उन्होंने अदम्य साहस और अटूट आत्म-विश्वास का परिचय दिया। वे अपनी मान्यताओं से पीछे नहीं रहना चाहते थे और पीछे रहे भी नहीं, उनकी कृति और व्यक्ति में यह सामंजस्य उन्हें और ऊपर उठा सका है।

शिवरानी में प्रेमचन्द ने मनचाही चीज पा ली और उनका व्यक्तिगत जीवन अधिक सरस और सप्राण हो उठा, इसका प्रभाव उनकी रचनाओं के ऊपर भी पड़े बिना न रहा, उनमें भी नयी स्फूर्ति और नयी मार्मिकता आयी। पीछे उन्हें अपनी प्रथम पत्नी से विच्छेद करने का अनुताप भी हुआ और जीवन भर उनका भरण-पोषण करते रहे, परन्तु शिवरानी देवी के आग्रह के बावजूद स्वयं उन्हें बुलाने नहीं गये। शायद प्रेमचन्द के भीतरी पुरुष को यह समझौता या प्रत्यावर्त्तन गवारा न हुआ, यह दूसरी बात है

पर उन्हें इसका भान जरूर हो गया कि भारतीय नारी के ओज का उन्होंने उचित आदर नहीं किया और अपनी इस गलती का परिमार्जन उन्होंने अपने नारी-पात्रों के उन्नयन में किया। किया तो बंगाल के शरच्चन्द्र ने भी है, पर प्रेमचन्द की नारी अपनी निष्ठा को नीति से जोड़ कर रखती है, जब कि शरत् की नारी नीति के बन्धन तोड़कर निष्ठा का पालन करती है। शिवरानी के त्याग और धैर्य से प्रेमचन्द का साहित्य पनप उठा है। शिवरानी में उन्हें प्रथम प्रीति का उन्माद तो न मिला होगा, पर नारीत्व की पूर्णता मिली, सबसे अधिक उन्हें उनमें मातृत्व की छाया मिली। इसी कारण बाद में उन्होंने अपने आप को शिवरानी के स्नेहमय संभाल में बच्चे की भाँति सौंप डाला।

अस्तु, 'लागहि अति पहार कर पानी' वाली बुन्देलखण्डी जलवायु से पिण्ड छुड़ाने के लिए उन्होंने तबादले के लिए प्रार्थना की और नौकर-शाही अवकृपा ने उन्हें हिमालय की तलहटी बस्ती में ला पटका। सन् १९१४ में वे बस्ती आये और उन्हें स्व० मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' का सरस परिपार्श्व मिला, जिसके कारण हिन्दी की ओर उनका रुझान हुआ और इसी समय उनका 'सेवासदन' उपन्यास पूरा हुआ। 'सेवासदन' के पहले 'सप्तसरोज' नाम से हिन्दी में उनकी कहानियों का संग्रह छप चुका था और पाठकों में अत्यन्त समादृत भी हो चुका था। बस्ती आकर उनकी पेचिश और पेचीदा हो गयी, फलतः छः महीने की छुट्टी लेकर लखनऊ मेडिकल कालेज में उन्होंने दवा करायी। साथ ही दौरे की दौड़ धूप से मुक्ति पाने के लिए शिक्षण-कार्य के लिए अपनी नियुक्ति करायी। सन् १९१५ में गवर्मेंट स्कूल बस्ती में शिक्षक होकर वे आये और तीन वर्ष तक इस स्थान में इस पद पर वे रहे। बीच में वे गोरखपुर गवर्मेंट नार्मल स्कूल में हेडमास्टर होकर चले गये थे। वहीं पर उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीपत राय का जन्म हुआ। शिक्षक हो जाने पर उन्हें साहित्य साधन के लिए यथेष्ट समय मिलने लगा और उनकी बहुत-सी उत्कृष्ट गल्प रचनायें इसी काल में रची गयीं, जिनमें से 'धोखा', 'दो भाई', 'बेटी का दान',

'शंखनाद', पंच परमेश्वर' प्रमुख हैं। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास भी लिखना इसी अवधि में शुरू हुआ। इस अवधि तक पहुँचते-पहुँचते सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं को एक साथ देखने की अद्भुत क्षमता उनमें आ गयी थी। उनकी अन्तर्दृष्टि भारतीय किसान की क्षमता को समझने लगी थी और उसके बलिदान के गौरव से अभिभूत होने लगी थी। किसान के घरेलू जीवन की विवशताओं और दुर्बलताओं के बीच उन्होंने महनीय मानवता को सोती पाया, जिसे जगाने में उनकी साधना लग गयी। हाँ, अभी रोग का ठीक निदान करने में वे असमर्थ थे। सुखद स्वप्न में ही अभी अंतिम निलय ले रहे थे। अभी प्रेमचन्द में क्रान्तिवादी और सुधारवादी का घोर अन्तर्द्वन्द्व था, इसका कारण शायद यही हो कि उन्मुक्त जीवन की चपेटों में अभी वे नहीं पड़ रहे थे, हाँ, उन्मुक्त जीवन के लिए वे विकल अवश्य थे। नौकरी से छूटकर खुले अखाड़े में खुल-खेलने के लिए उनके मन में बहुत तीव्र उत्कण्ठा उग चली थी। इस अवधि में हिन्दी की ओर उनका रुझान वेग से हो चला, इसका श्रेय स्व० मन्नन द्विवेदी के साथ-साथ श्री महावीर प्रसाद पोद्दार को भी है। उर्दू की रवानगी को हिन्दी की गंभीरता देने की साधना यहीं शुरू हुई, जिसकी सिद्धि एक ऐसी सरल, उच्छ्वल और भावगंभीर शैली में हुई, जो हिन्दी को नई स्वस्थ परम्परा की ओर मोड़ कर रही। जो साहित्य और भाषा दोनों जनजीवन से दूर भागते चले जा रहे थे, उनको इन साधक ने समीप खींचा और दोनों को जनजीवन की साधना में जोत दिया, स्वयं भी उर्दू के चुलबुलेदार हलकेपन को यथास्थान निभाते हुए भी गंभीर भाव भूमि पर उतरे, जहाँ आकर उनके साहित्य ने अपनी असल आत्मा पहचानी।

इस बीच देश में नया ज्वार आया और प्रेमचन्द-से जीवन-साधक जो उसके बहाव में आने की पहले से ही प्रतीक्षा में बैठे थे, अब तो जन जागृति के नये युग में समस्त कूल-बन्धनों को तोड़कर विलग हो गये। बरसों से जो मवाद पक रहा था, वह आज फूट गया। उन्होंने सरकारी नौकरी से अन्ततोगत्वा इस्तीफा सन् १९२१ में दे ही दिया। पराधीनता

की बेड़ी बरदाश्त के बाहर हो गयी और वे एकान्ततः अपनी साधना के क्षेत्र में उतर पड़े। आरंभ में तो दूसरों के प्रभाव में मदहोश होकर चलते रहे, इसलिये पहले महावीर प्रसाद पोद्दार के साथ साझे में चर्खे की दूकान की, वहाँ लेखा-जोखा में मन नहीं रमा तो बनारस में आकर कर्घों का काम शुरू किया। उसमें भी बहुत उद्यम करने पर सफलता न मिली तो फिर कानपुर में जाकर एक स्वदेशी आन्दोलनवाले मारवाड़ी स्कूल में नौकरी की; वहाँ भी उस स्कूल के प्रबन्धक काशीनाथ मारवाड़ी से उनके स्वाभिमानी स्वभाव की पटरी न बैठ सकी। कानपुर में ही उनके द्वितीय पुत्र अमृतराय का जन्म हुआ। स्कूल की नौकरी छोड़कर फिर वे काशी लौटे, वहाँ संपूर्णानन्दजी के जेल-प्रवास में 'मर्यादा' का संपादन डेढ़ वर्ष तक किया, उनके जेल से लौटने पर उस भार से मुक्त होकर काशी विद्यापीठ में अध्यापकी करते रहे। पर पहले भी उनकी प्रतिभा उपदेशक बनने से बगावत करती रही, अब भी वह बागी रही, फलतः इस कार्य से भी वे अलग हो गये। ज़ीवन में इन विभिन्न अनुभवों में सुख खोकर अपने को पाते रहे, इन सभी अनुभवों की प्रतिच्छवियाँ उनके प्रेमशंकर, अमरकांत और मेहता जैसे पात्रों में अंकित मिलती हैं, उसी के साथ इन अनुभवों की निष्फलता का बोध भी क्रमशः उन उपन्यासों में मिलता है। उपदेश देने की प्रवृत्ति से जो धीरे-धीरे उनको विरक्ति होती गयी, उसके पीछे कुछ अंशों तक उनका यह इतिहास भी है। यों तो साहित्यकार अपने जीवन में तटस्थ रहकर ही जीवन का पर्यालोचन करता है, पर अपने अनुभवों की यथार्थता को भूलकर नहीं, अधिक से अधिक उन अनुभवों को वह निर्विशेष बनाकर रख देता है। १९२३ में कुछ साझीदारों के साथ सरस्वती प्रेस की बनारस में स्थापना की और अपने अनुज महताबराय को उसकी व्यवस्था में लगाया।

'मर्यादा' की संपादकी में उन्हें अपने पथ का संकेत मिल गया। उनको दीख पड़ा कि अपना पथ उन्हें स्वयं कूट-पीटकर बनाना है और जीवन से जूझकर एक ऐसी साहित्य परम्परा निर्माण करनी है कि जिस पर चलने का आनेवाली साहित्यकार पीढ़ी साहस कर सके। काशी से नौकरी छोड़ कर

लखनऊ गंगा-पुस्तकमाला में १००) मासिक पर कुछ दिनों तक काम करते रहे और स्कूली किताबों में भटकते रहे। वहाँ से खिन्न होकर १९२६ में फिर बनारस लौट आये और सरस्वती प्रेस की देख-भाल स्वयं करने लगे। प्रेस के काम में उन्हें बहुत खटना पड़ा। प्रकाशकों के शोषण से निस्तार पाने के लिए उन्होंने वह दुस्साहसपूर्ण कदम उठाया जो उनकी शक्ति के बाहर था। 'कायाकल्प' से उन्होंने निजी प्रकाशन आरंभ किया। पर इस कार्य में उन्हें बहुत टोटा उठाना पड़ा, इसी कारण सन् १९२८ में उन्होंने नवलकिशोर प्रेस के अधिष्ठाता विशुननारायण भार्गव के आग्रह पर 'माधुरी' का संपादन स्वीकार कर लिया, जिससे गृहस्थी का निर्वाह हो सके। 'माधुरी' के संपादन काल में ही अपनी मान्यताओं और अपने स्वप्नों को साकार बनाने के लिये १९३० में 'हंस' का सूत्रपात किया, जिसका उद्देश्य नये लेखकों को प्रोत्साहन और सत्परामर्श देकर आगे बढ़ाना और इसके द्वारा साहित्यिक आन्दोलन को सशक्त बनाना था। 'हंस' के साथ जुड़कर उनका त्याग नशे में परिवर्तित हो गया। उसी के साथ-साथ उन्होंने 'जागरण' साप्ताहिक भी शुरू किया। इसी अवधि में आते-आते उनकी कर्मशक्ति बिलकुल चमक उठी थी। वे अब अपने को विशुद्ध साहित्यमजूर समझते थे और वैसा ही बरतते भी थे। मजूर का ही अध्यवसाय और विनय उन्होंने अपनाया, कभी भी अपने को मिथ्यागर्व से अभिभूत होने नहीं दिया, अपनी सहज विनोदशीलता में अपनी गरिमा लपेटने में ही उन्होंने आनन्द पाया और दुख सहकर भी असीम आत्मसंतोष पाया। अपने बाहरी संघर्ष के कारण उनमें चिड़चिड़ापन नहीं आ पाया, यहाँ तक कि घर पर बच्चों के साथ असीम उल्लास के साथ बराबर बच्चे बने रहे। उनका यही मन्त्र था कि 'दीपक का काम जलना है और जलकर ज्योति जगाना है।' सन् १९३१ में 'समर-यात्रा' कहानी के कारण 'हंस' को जमानत देनी पड़ी, इस कहानी पर उनके अद्भुत् आत्म-विश्वास और ओजस्वी संकल्प की छाप है। इस कहानी के साथ स्वयं अपनी समर-यात्रा के लिए कमर कसकर चल पड़े और खेत में जूझते हुए ही सदा के लिए सो गए। सन् १९३१ से

१९२५ तक अविच्छिन्न रूप से वे बोझ सहकर घाटे में 'हंस' और 'जागरण' चलाते रहे। इस बीच में उन्होंने 'रंगभूमि' (१९२६), 'गबन' और 'कर्मभूमि' तीन उपन्यास और कहानी कला की दृष्टि से 'कफन', 'तथ्य', 'ईदगाह', 'अलग्योझा' सरीखी सूक्ष्म शिल्पभरी उत्कृष्ट कहानियाँ लिखी। उनकी कला अध्ययन और संघर्ष में निखार और परिष्कार पाकर पूर्णता पा गई। साथ ही उनके द्रष्टा मानस ने बहुत से अयथार्थ आवरणों को चीर फेंका। इस अवधि के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उनके बहुत से दुर्बल विश्वास ढीले हो गये और वे स्पष्ट आलोक देने में सफल हो गये। परन्तु उन्होंने प्रकाशन-कार्य उस युग में शुरू किया जो बहुत मन्दी का था और यद्यपि उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के पाठक का विस्तार बहुत बढ़ गया था, तथापि ईमानदारी से लेखक स्वावलम्बी होकर रोजी नहीं कमा सकता था। इन्हीं कारणों से प्रेमचन्द कर्ज के बोझ से दबते गये और सन् ११३४ में उन्हें जब बम्बई के अजन्ता मूवीटोन से ९०००) साल पर आमन्त्रण मिला तो वे इन्कार न कर सके।

करीब साल भर वे फिल्म-संसार की कड़ुवी दुनिया में रहे, जहाँ जाकर उनका यह सपना कि सिनेमा सशक्त नये विचारों का सफल माध्यम बनाया जा सकता है, बिलकुल टूट गया और फिल्म-उद्योग के सर्वनाशी और दमघोंटू स्वरूप को ठीक-ठीक पहचानने का उन्हे अवसर प्राप्त हुआ। यहाँ आकर लेखक की स्वतन्त्र चेतना को जो कुत्सित रुचि का बन्धन मिलता है उसका उन्हें असीम परिताप हुआ। उनकी 'मिल-मजदूर' कहानी का भीषण विद्रूप रूपान्तर 'मजदूर' नामक फिल्म में हुआ। फिर 'डामुल का कैदी' और दो एक कहानियाँ उन्होंने लिखीं, पर उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि फिल्म-संसार के विधाता गरम मसालेदार मनोरंजन के नाम पर कुरुचि, अयथार्थ और चमत्कार को ही अभीष्ट मानते हैं। खिन्न और अनुतप्त होकर साल भर में ही उस काम को छोड़-छाड़कर वे बनारस लौट आये। इस बीच में अपने जीवन की सबसे बड़ी कृति 'गोदान' लिखते रहे, जिसको उन्होंने अपनी समस्त साधना, आस्था और निष्ठा का तत्व देकर

भारतीय खेतिहर के जीवन का महाकाव्य बना डाला है। सन् १९३६ में 'गोदान' छपा और इसके छपते-छपते जीवन का सूरमा चूर-चूर हो गया। अन्त में उन्हें खाट पकड़नी पड़ी। रोग-शय्या पर भी उनको लिखने की पीड़ा सताती रही और उनका अधूरा उपन्यास 'मंगलसूत्र' लिखा जाता रहा। 'मंगलसूत्र' तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय राजनीति बिल्कुल नये समझौते की स्थिति में आ गयी थी और इसीलिये द्रष्टा प्रेमचन्द उसके साथ समरस न हो सके। जैसा कि जैनेन्द्र जी ने एक जगह लिखा है, 'उनके विश्वास नुकीले नहीं थे', पर उनकी दृष्टि बहुत विमल थी। वे अपने पिछले विश्वास बराबर धोते गये, किन्तु अपनी दृष्टि कभी भी उन्होंने मलिन न होने दी। बीमारी में तिल-तिल घुलते हुए भी कर्मपथ पर अडिग बने रहे, इस कर्मवाद के लिए उन्होंने अन्तिम समय तक भगवान् का सहारा लेना मंजूर न किया और ८ अक्तूबर १९३६ को मानवता में अटूट विश्वास और 'हंस' और 'हंस' की परम्परा की चिन्ता लेकर वे असमय विदा हो गये। जब वे तमाम चढ़ाइयों और अँधियारियों के बाद ऐसे सुविस्तृत पठार पर पहुँचे, जहाँ से भारतीय जीवन की मार्मिक परख अधिक असंलग्न होकर कर सकते थे और अपनी पूर्णता-प्राप्त कला को नये जीवन-दर्शन के लिए और नियोजित कर सकते थे तब वे बिछुड़ गये। यह हिन्दी का दुरन्त दुर्भाग्य था कि एक स्वस्थ परम्परा को जन्म देकर उसे पनपता वे न देख सके, साथ ही उस परम्परा में भारतीय गरिमा पूरी तरह न भर सके।

व्यक्तित्व

प्रेमचन्द का व्यक्तित्व उनकी देहाती भारतीय अन्तःप्रकृति की झाँकी था, सीधा-सादा बेतरतीब मूँछोंवाला, साज-सँवार से दूर, अनाकर्षक, तड़क-भड़क से शून्य, सरल और विनम्र, ग्रंथियों, विकृतियों और कुण्ठाओं की झाँकी से भी दूर, उन्मुक्त विनोदी और अलमस्त, जो भीतर सो बाहर नागर विदग्धताओं और चातुरियों से अछूता पर सामान्य बोध से दीप्त, संकल्प की दृढ़ता से अंकित पर मानसिक दबाव से शून्य एवं सजग कर्मवादी यही संक्षेप में उसका अंकन है। वेश-भूषा, खान-पान, बोली-बानी,

रहन-सहन, बातचीत और आवभगत में वे भारतीयता के प्रतिमान थे। उन्हें अपने इस देहातीपन के गौरव का आत्मज्ञान था। यद्यपि ईश्वर और परलोक में विश्वास करने में वे अपने को असमर्थ पाते थे, पर इस लोक की मंगल-भूमि के सदैव आकांक्षी थे। लोक मंगल के लिए उनकी इस निश्चल प्रीति ने ही उनको दुःख हँसते-हँसते सहने तथा कडुवी से कडुवी आलोचना हँसकर टाल देने की अपूर्व क्षमता प्रदान की थी और यही कारण है कि उनके साहित्य में करुण से करुण चित्र होते हुए भी अवसाद की गन्ध तक नहीं है, उनका मानवता में विश्वास सदैव अटूट और सजग है। परन्तु व्यक्तित्व के इस उभरे हुए रूप में अतिशय सदाचार-परायणता के कारण कुछ संकीर्णता का आ जाना स्वाभाविक ही था, प्रेमचन्द शिक्षित नागर वर्ग के प्रति कुछ निर्मम हो गये थे। भीतरी कोमलता की ओर झाँकने का उन्हें एक तो अवसर भी कम मिला, दूसरे इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी नहीं किया, इसलिए सूक्ष्म भाव-ग्रन्थियों को सुलझाने की चिंता भी उन्होंने नहीं की है। हरिश्चन्द्र युग की सहजता को उन्होंने आगे बढ़ाया, पर उसकी इस भीनी भावुकता के कई एक कोनों से वे अपरिचित रह गये। संख्या की विराटता में खोकर उन्होंने क्षीण कण्ठों का स्वर अनसुना कर दिया। धर्म के आडम्बर के वे घोर विरोधी बन गये, पर जो आज आडम्बर बन गया है, वह कभी उसका अंग भी रहा होगा, इस प्रत्यावलोकन की उदारता उन्होंने नहीं दिखलाई। आर्यसमाज के विशुद्धवादी रंग के कारण उन्हें भारतीय जन मन में बसी हुई धार्मिक भाव-प्रवणता की अनुभूति न हो सकी। उनकी सुधारवादिता ने उनके सरस पक्ष की बहुत आहति की। कहना चाहें तो कह दें कि वे कथा क्षेत्र के कबीर तो बने: पर तुलसी न हो सके। जीवन के अंतिम दिनों में जब उन्होंने 'गोदान' लिखा, तब उनकी भावप्रवणता अधिक उदार हो चली थी। ढोंगी तथा शिक्षित वर्गों का निर्मम उपहास करते हुए भी अत्यन्त भावुक तल्लीनता के साथ भारतीय कृषक के साथ उन्होंने अपनी कला का इसीलिए तादात्म्य कराया है। परन्तु इन सब से अलग उनकी महानता

उनकी निश्छल सत्यनिष्ठा और सच्ची मानवता में है, उन्होंने मानव श्रम का गौरव पहचाना और उसे अपनाया, यह उस युग के साहित्यकार के लिए बहुत बड़ी चीज थी। उनके व्यक्तित्व का उत्कर्ष भी इसी में है।

कृतित्व

प्रेमचंद के कृतित्व का पर्यालोचन करें, इसके पूर्व उनके युग और उनके दाय का परिचय कराना आवश्यक होगा, क्योंकि आखिर इन्हीं के आलोक में ईमानदारी के साथ किसी साहित्यकार के कृतित्व को देखा जा सकता है। प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में जब आये तो हिन्दी भाषा और साहित्य के ऊपर बँगला छा रही थी; हिन्दी को विस्तृत चिन्तन-भूमि तो मिल गयी थी, पर उसका स्वत्व खो रहा था। उन्होंने आते ही हिन्दी की सहज गंभीरता और विशालता को उद्दाम भाव-पेशलता और व्यक्ति विलक्षणता से उबारने के लिए दृढ़ संकल्प किया। जहाँ तक रीति काल की मांसल श्रृङ्गारिकता के प्रति विद्रोह करने की बात थी, वहाँ तक प्रेम-चन्द अपने युग के साथ थे, पर इसके साथ ही साहित्य में जो नयी दीवाल बन रही थी, शिष्ट और ग्राम्य के नाम पर, उस दीवाल को ढहाने में ही उन्होंने हिन्दी का कल्याण समझा। भाषा रंगीन होने के साथ-साथ दुरूह, कृत्रिम और परायी होने लगी थी, चिन्तन भी कोमल होने के नाम पर जन-आकांक्षाओं से विलग हो चला था। हिन्दी की ओजस्विनी वाणी को आगे बढ़ाना उन्होंने अपना प्रथम कर्त्तव्य समझा, इसलिये उन्होंने नयी बौद्धिक जन-परम्परा को जन्म दिया। प्रेमचन्द से हिन्दी साहित्य को निश्चित ही नया मोड़ मिला है। यदि देवकीनन्दन खत्री और किशोरी-लाल गोस्वामी ने अपने तिलस्मी और रोमांचकारी उपन्यासों द्वारा हिन्दी के पाठक बुलाये, तो प्रेमचन्द ने हिन्दी के कथा-साहित्य को एकदम उत्कर्ष बिन्दु पर पहुँचा दिया। प्रेमचन्द ने यह सिद्ध कर दिया कि वर्तमान युग में कथा के माध्यम की सबसे अधिक उपयोगिता है।

अब जब हम प्रेमचन्द के दाय की बात लेते हैं, तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारतीय वातावरण की सच्ची परख उनके पास होते हुए भी

देश की चिन्तन परम्परा का गहन अध्ययन न था। कारण स्पष्ट है, वे जीवन की पाठशाला से साहित्य में आये, पारिवारिक प्रभाव भी उनका अधिकतर ह्रासोन्मुख सामन्तयुग का था। उनका अपनापन जितना अधिक नवाबी नफासत से था, उतना मननशील भारतीय पद्धति से नहीं था, यद्यपि उनका हृदय विशाल था और त्याग, प्रेम, सदाचार, सेवा, परोपकार और दया जैसे धर्म के मूलभूत सिद्धांतों पर ही उनका समस्त जीवन-दर्शन आधारित था। जहाँ तक धरती की मौलिक संस्कृति का प्रश्न है, प्रेमचन्द ने उस दाय में अवश्य अभिवृद्धि की है। हाँ स्थूल रूप से इतना निर्विवाद है कि भारत के मध्ययुग को जितना उन्होंने समझा था, उतना आदि युग को नहीं, आदि युग के दाय से वे वंचित रह गये। परन्तु वंचित होकर भी उन्होंने उस अतीत के बारे में अपनी ओर से कोई पूर्वद्वेष नहीं दिखलाया और न उसको विद्रूप करने का उन्होंने यत्न किया, जैसा कि बहुतेरे अतीत जीवियों ने किया और अभी कुछ लोग करते ही जा रहे हैं। वे केवल उस अतीत के बारे में चुप रह गये। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सरस मधुरता वे इसलिए आप्लावित न कर सके। उनका स्वर चक्की का स्वर तो जरूर बना, पर चिड़ियों का कलरव न बन सका। वे इतने अधिक पौरुषवादी हो गये कि जीवन की कोमलताओं के साथ सुपरिचित न्याय न कर सके।

कहानीकार प्रेमचन्द

रही बात हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द के स्थान की, सो इससे शायद ही कोई इन्कार करे कि उपन्यास के क्षेत्र में अभी तक उनका स्थान मूर्धन्य बना हुआ है; कहानी के क्षेत्र में भले ही उनके साथ दूसरों के भी नाम गिनाये जा सकते हैं। उनकी कहानी कला का उत्कर्ष जब सचमुच पूर्णता को प्राप्त हुआ और वे सूक्ष्म अन्तर्मन में पैठकर मानव मन को छूने लगे, यकायक वे चल बसे। इसलिये जितना वे दे सकते थे, उतना कहानी साहित्य को दे नहीं सके। उनकी कहानियाँ कुल लगभग ३०० हैं और उनमें से प्रारम्भिक युग की कहानियों में सीख या पाठ पर अधिक जोर होने के कारण कला-पक्ष शिथिल हो गया है, पर बाद की कहानियों में उपदे-

शात्मकता बहुत सूक्ष्मतर होती गयी है और अंतिम कहानियों में बिलकुल लुप्त-सी हो गयी है। उनकी कहानियों के कुछ संग्रह 'सप्तसरोज', 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेमपूर्णिमा', 'प्रेमद्वादशी', प्रेमबत्तीसी', 'ग्राम जीवन की कहानियाँ' नामों में छपे थे, जो बाद में 'मानसरोवर' आठ भाग में एक साथ संकलित हो गये हैं। उनकी उत्कृष्ट कहानियों में से कुछ के नाम ये हैं, 'ईदगाह', 'कफन', 'अलग्योझा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'आत्माराम', 'मुक्ति का मार्ग', 'बेटी का धन', 'बड़े घर की बेटी', डिग्री के रुपये', 'पंच-परमेश्वर', 'शखनाद', 'दुर्गा का मंदिर', 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'मन्दिर और मस्जिद', 'नमक का दारोगा', 'मंत्र', 'कामना-तरु', 'सुजान भगत' और 'ईश्वरीय न्याय'। हास्यरस की कहानियों में 'सत्याग्रह', 'विनोद', 'मोटेराम की डायरी' और 'बूढ़ी काकी' शुद्ध और परिष्कृत हास्य के सुन्दर नमूने हैं। उनकी कहानियों का वातावरण बुन्देलखण्डी वीरतापूर्ण कहानियों और मुस्लिम ऐतिहासिक कहानियों को छोड़कर वर्तमान देहात और नगर का निम्न मध्यवर्ग है। ऐतिहासिक कहानियों में वातावरण बहुत अयथार्थ हो गया है, क्योंकि उनमें वे चरित्र पर ही अधिक झुक गये हैं! परन्तु प्रायः उनकी कहानियों में वातावरण का बहुत ही सजीव और यथार्थ अंकन मिलता है। जितना आत्मविभोर होकर प्रेमचन्द ने देहात के पार्श्व-चित्र लिये हैं उतना शायद दूसरा कोई कभी भी न ला सका होगा। शहर के प्रति उनकी दृष्टि कुछ एकांगी अवश्य थी, तो भी निम्न मध्यवर्ग की बाहर से सफेदी की हुई दरिद्रता की सफलतम झाँकी भी वही दे सकते हैं। हाँ, उनकी कहानियों में प्रकृति के सूक्ष्म-पर्यवेक्षण की तन्मयता नहीं मिलेगी, प्रकृति के विविध रूपों की छटा उन्होंने नहीं पायी है, क्योंकि वे बहुत कम पर्यटन कर सके थे और फिर उन्हें प्रकृति में खो जाने की भावुकता प्रिय नहीं थी। इसकी कमी उन्होंने मानव अन्तःप्रकृति के चित्रण में पूरी की है। कोई भी मानवीय-मानस-व्यापार उनसे अछूता नहीं बचा है, जीवन के सभी पक्षों को उन्होंने अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। मानव हृदय के वे बहुत बड़े पारखी हैं; यही नहीं, बल्कि उनके चरित्र-चित्रण में

स्वाभाविकता होते हुए भी जो बहुत बड़ा उन्नायक तत्व मिलता है, उससे उनका द्रष्टा-रूप भी सामने आ जाता है। मानव हृदय में सु-कु के अन्तर्द्वन्द्व को बहुत सफलता के साथ उन्होंने चित्रित किया है और उनकी कहानियों का अन्त प्रायः आत्मविश्वास, आत्मसंतोष और मानवता की विजय में होता है। उनकी प्रत्येक कहानी इसलिए अन्याय, शोषण, स्वार्थ, ढोंग, आलस्य और अज्ञान के विरुद्ध अभियान का सफल वाहन बनकर आती है। उनकी कहानियों की भाषा मँजते-मँजते अत्यन्त सरल और प्रचारयुक्त हो गई है, विषय के अनुरूप उनकी भाषा बल खाती रहती है। संवादों की भाषा प्रायः पात्रों का प्रतिबिम्बन करती मिलेगी।

प्रेमचन्द की अन्य कृतियाँ

कहानीकार के अलावा प्रेमचन्द आलोचक, नाटककार, निबन्धकार, संपादक और अनुवादक भी थे। आलोचनाएँ 'हंस' के विभिन्न अंकों में तथा कुछ भाषणों में बिखरी मिलती हैं, उनका एक संग्रह भी 'कुछ विचार' (भाग १) के नाम से प्रकाशित हा चुका है। आलोचना के माध्यम के द्वारा उन्होंने बिना लागलपेट के अपनी मान्यताओं को सामने रखा है, उसमें शक्ति और सचाई इतनी है कि सुगठन का अभाव बिलकुल खटकता नहीं। आलोचक वे अपने समर्थन में अधिक थे। तटस्थ होकर निरपेक्ष भाव से आलोचना उन्होंने कम की है। उनके दो नाटक 'संग्राम' और 'कर्बला' हैं; और एक छोटा नाटक 'प्रेम की वेदी' है। ये उपन्यास की तरह फैले हुए हैं। इसके अतिरिक्त अनेकानेक पुस्तकों का अनुवाद और संपादन करके उन्होंने साहित्य का भण्डार भरा। इनमें से मुख्य हैं—

जीवनियाँ—महात्मा शेखसादी, दुर्गादास, कमल, तलवार और त्याग।

अनुवाद—सृष्टि का आरम्भ (बर्नार्ड शा), टालस्टाय की कहानियाँ, सुखदास (जार्ज इलियट का साइलस मार्नर), अहंकार (अनातोले फ्रांस—थाया), चाँदी की डिबिया, न्याय, हड़ताल, (तीनों गाल्सवर्दी के नाटकों के अनुवाद) और आज़ाद-कथा (रतननाथ सरशार)।

इसके अतिरिक्त शिशु-साहित्य भी उन्होंने दिया। इन विभिन्न कृतियों

में उनकी असल कला के दर्शन नहीं मिलते, परन्तु उनके विचारों को समझने में इनसे बहुत बड़ी सहायता मिलती है, विशेषतः अनूदित पुस्तकों से उनको प्रभावित करनेवाले मुख्य तत्वों के विश्लेषण में बड़ी मदद मिलती है।

प्रेमचन्द की उपन्यास कला का मर्म है, सादगी से ऊँचाई। बिना किसी लाक्षणिक वक्रता या सूक्ष्म अलंकार-योजना के मानव-जीवन के शाश्वत सत्य का दर्शन उसने कराया है। उस कला के पास रूपवाद में भटकने के लिए समय नहीं है, वह तो केवल नयी मान्यताओं के लिए आधार-भूमि तैयार करने में अपने को समर्पित कर देती है। जिन वर्गों के बीच घुलने मिलने का उन्हें अवकाश मिला और जिनके जीवन के सुख-दुःख से द्रवित होने का उन्हें अवसर मिला, उनकी मौलिक समस्याओं के समाधान पाने की अनवरत साधना ही उनके उपन्यासों का इतिहास है। उन्होंने इस समाधान के लिए यथासंभव समस्त सुलभ चिन्तन पद्धतियों की छानबीन की, आत्मसुधारवादी गांधी विचारधारा से लेकर समष्टि-विचारवादी मार्क्स विचारधारा तक उन्होंने आलोड़न-विलोड़न किया और मानवता के उत्थान तथा कल्याण के सोपान उन्होंने कल्पित किये, पर किसी एक विशेष वाद से वे कहीं स्वयं अभिभूत नहीं हैं। उनकी अडिग आस्था यदि किसी एक चीज़ में है तो वह मनुष्य की सुजनता और सतत विकासशीलता में है। इसी आस्था को उन्होंने विभिन्न-विभिन्न परिस्थितिओं में और विभिन्न ढंगों से फैलाया है। चाहे मनुष्य खेतिहर किसान हो, चाहे मिल मजदूर हो, चाहे क्लर्क हो या उनमें भी ऊँचे उठकर चाहे वह मध्यवर्ग के विभिन्न स्तरों में चढ़ता-उतरता निरुपाय शिक्षित वर्ग का हो, उन्होंने सबमें इस आस्था को जगाने की कोशिश की है। कुछ जग पाते हैं और कुछ जगते ही नया रोशनी बर्दाश्त न कर सकने के कारण ज्योति खो भी देते हैं, पर प्रेमचन्द का उद्देश्य है रूढ़ि-जर्जर और शोषण पीड़ित समाज में नया विश्वास और नया बल भरते रहना, भले ही कोई पात्र उनका भार वहन करने में ही टूट जाय, इसकी उन्हें रत्ती भर परवाह नहीं है। जिस वर्ग को (अर्थात्

अभिजात वर्ग को) प्रेमचन्द ने दूर से देखा है, उसके बारे में उनकी धारणाएँ बहुत ही अस्पष्ट और पूर्वग्रह से रंजित हैं, पर निम्न से मध्यवर्ग तक उनकी दृष्टि बहुत ही स्पष्ट और विस्तृत है। उनके उपन्यासों में उनकी बौद्धिकता का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास होता गया है—बीच में केवल 'कायाकल्प' में वे कुछ पथ-विभ्रान्त हो गये हैं—और उनकी भावुक आदर्शवादिता की ढिलाई कसी जाती रही है। सुधारवादी प्रेमचन्द धीरे-धीरे अधिक सशक्त विद्रोही होते गये हैं, यद्यपि उनके विद्रोह की चरम सीमा होरी या देवकुमार ('मंगल सूत्र' के नायक) भी आत्मसमाधान का पथ नहीं छोड़ते। कारण यह है कि प्रेमचन्द का हृदय विशुद्ध भारतीय था, वे भारतीय आदर्शों से विच्छिन्न होकर पल भर भी नहीं रह सकते थे, उन्होंने भारतीय समाज की गलित परम्पराओं पर आघात किया है, इसलिए नहीं कि विध्वंस पर नया समाज खड़ा हो, बल्कि इसलिए कि समाज में स्वतः चेतना जगे, वह अपने स्वाभिमान के आवेश में उठ खड़ा हो और आदर्श की आराधना में जीवन बिता दे। शोषण का अन्त उनके लिए साधन है, साध्य नहीं, क्योंकि 'इस शोषण-व्यवस्था में साहित्य और संस्कृति फल-फूल नहीं सकती' (मंगलसूत्र)। यह तो हुई उपन्यास के मूल अन्तस् तत्व की बात, अब जब हम उसके बाह्य शिल्प विधान की दृष्टि से उनके उपन्यासों को देखते हैं तो इतना स्पष्ट लगता है कि प्रेमचन्द को शरच्चन्द्र की भाव-विदग्धता, रवीन्द्र की आध्यात्मिक काव्यशीलता और जैनेन्द्र की अन्तर्मग्नता और रूसी उपन्यासकारों का विशद एवं सूक्ष्मतम वस्तुविन्यास नहीं मिला है, परन्तु सामान्य जन के मनोविज्ञान का सहज ज्ञान, जन-साधारण की क्षमताओं, अक्षमताओं की अद्भुत परख, पराकाष्ठा (क्लाइमेक्स) की प्रभावशीलता की अनुभूति और पात्रों की एकाचिति में कुशलता जितनी उन्हें एक साथ मिली है उतनी शायद किसी अन्य को नहीं।

कालक्रम से उनके उपन्यासों की सूची यह है—

१. प्रतिज्ञा या प्रेमा (१९०४)—विधवा-समस्या को लेकर लिखा गया है।

२. वरदान (१९०६) राजनैतिक आन्दोलनों के प्रतिबिम्ब हैं तथा राजनैतिक आदर्श में अन्त हो गया।
३. सेवासदन (१९१४)—वेश्या-समस्या और निम्न मध्यवर्ग की दुर्बलता को लेकर लिखा गया है।
४. प्रेमाश्रम (१९१८)—खेतिहर के अधिक शोषण तथा नये आदर्श सुधार के आलोक में लिखा गया है।
५. निर्मला (१९२३)—दहेज और अनमेल विवाह की दुःखान्त कहानी है।
६. रंगभूमि (१९२४)—औद्योगिक शोषण, राजनैतिक गुलामी तथा अन्तर्जातीय विवाह की समस्याओं को समेटनेवाली वृहद् कृति है।
७. कायाकल्प (१९२८) मध्यवित्तवालों के मिथ्यादर्प से विद्रोह करके आत्मा के रहस्यों में खो जानेवाला उपन्यास है।
८. गबन (१९३०)—निम्न मध्यवर्ग की घरेलू समस्या की विकरालता का जीता जागता चित्र है, साथ ही इसमें क्रांतिकारी आंदोलन के लिए गहरी सहानुभूति है।
९. कर्मभूमि (१९३२)—किसान और अछूत आन्दोलन में नया वेग भरनेवाला उपन्यास है।
१०. गोदान (१९३६)—भारतीय खेतिहर के जीवन की महागाथा है, जिसके साथ मध्यवर्ग की एक छिछली कहानी विषय-प्रमात्र देने के लिए चलती रहती है।
११. मंगलसूत्र (अपूर्ण—१९३६)—इसमें लेखक ने अपनी साहित्य साधना के कष्टों का मर्मस्पर्शी अंकन करते हुए विद्रोह का स्वर गुँजाया है।

इन उपन्यासों के क्रमशः केन्द्रभूत हैं, प्रेमा, विरजन, सुमन, प्रेमशंकर, निर्मला, सूरदास, चक्रधर, रमानाथ, अमरकान्त, होरी और देवकुमार जिनमें प्रेमा, विरजन, सुमन, प्रेमशंकर, सूरदास और चक्रधर आदर्श की ओर तथा शेष यथार्थ की ओर अधिक झुके हुए हैं। इन अमर पात्रों में दो एक को छोड़कर प्रेमचन्द ने सामान्य जीवन के तुमुल संघर्ष के बीच आगे बढ़नेवाले अद्भुत कर्मशक्तिवाले मानवों की सृष्टि की है। इन उपन्यासों में

सर्वश्रेष्ठ है 'गोदान' जो पराड़करजी के शब्दों में एक प्रकार से उस मुमूर्षु महासाधक साहित्य कृषक का ही अन्तिम गोदान है। गबन, सेवासदन और रंगभूमि का स्थान उसके बाद ही आता है। प्रेमा, वरदान, निर्मला और कायाकल्प उनकी शिथिल रचनायें हैं, इनके घटना-जाल में अद्भुतता तथा आकस्मिकता का अत्यधिक समावेश होने के कारण हृदयग्राहिता की क्षति हो गयी है। सेवासदन और गबन विशुद्ध सामाजिक, कर्मभूमि विशुद्ध राजनैतिक और शेष सर्वसंस्पर्शी हैं।

प्रतिज्ञा आर्यसमाज आन्दोलन की छाया में लिखा गया है, और इसमें प्रेम की प्रतिस्पर्द्धा, किशोर सुलभ अपरिपक्व आदर्शवाद और आकस्मिक हृदय परिवर्त्तन का चित्रण हुआ है। कहानी के पात्र बहुत निष्प्राण और छायामात्र लगते हैं तथा धार्मिक दम्भ पर ऊपरी आक्रमण किया गया है, जो बहुत गहरा प्रभाव पाठक पर नहीं छोड़ता।

'वरदान' एक ऐसी विफल प्रेमी की कहानी है जो अपनी पर-विवाहित प्रेयसी के पीछे-पीछे दूर से मँडराता रहता है और अन्त में उसके विधवा हो जाने पर संन्यासी हो जाता है। उसकी प्रेयसी विरजन भी सेवा में लगती है और वह भी सेवायोगिनी बन जाती है। कथानक बहुत ही पेचीदा है और पात्र बहुत दब-से गए हैं। अकारण मृत्यु और घटना-परिवर्त्तन से उपन्यास अस्वाभाविक हो गया है। परन्तु ये दोनों अत्यन्त आरंभिक उपन्यास हैं, इसलिये इनमें स्वभावतः अपरिपक्वता मिलेगी। ये दोनों उपन्यास पहले उर्दू में लिखे गए थे और इसीलिये सरशार और शरर के जादू से अधिक प्रभावित थे।

'सेवासदन' हिन्दी में प्रेमचन्द की पहली कृति थी और इतनी प्रौढ़तम कृति थी कि लोगों ने तुरंत प्रेमचंद का लोहा मान लिया। इस उपन्यास की विस्तृत विवेचना आगे मिलेगी, यहाँ इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि इस प्रथम कृति में ही उनकी सच्ची शक्ति स्फुरित हो गयी और उन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया।

'प्रेमाश्रम' नये किसान जागरण को उभार देने के लिए लिखा गया

और इस उपन्यास में प्रेमचंद ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि करने के लिए बहुत ही सजीव और सशक्त पात्र रखे। प्रेमशंकर और श्रद्धा में उन्होंने आदर्श दाम्पत्य की स्थापना की, इसके साथ-साथ विदेशी शिक्षा का भारतीय जीवन की सात्विकता के साथ सुन्दर मेल भी कराया। प्रेमाश्रम की कथा का केन्द्र प्रारंभ में लखनपुर गाँव, फिर बनारस नगर, बीच में गोरखपुर, लखनऊ और अन्त में पुनः बनारस नगर के उपांत का "प्रेमाश्रम' है जो ग्राम और नगर जीवन को जोड़नेवाली कड़ी बनकर अद्भुत समरसता की सृष्टि करता है। उस समय के किसानों के शोषक तत्वों—जमींदार, सरकारी अहलकार, सूदखोर महाजन और पटवारी—के शोषण तथा शोषितों के विभिन्न मनोभावों—मौन सहिष्णुता, भीरुता, विश्वासघात और विद्रोह—का बोलता हुआ चित्र इस उपन्यास के भीतर मिलेगा। उसी तरह ह्रासोन्मुख मध्यवर्ग की अच्छाइयों और बुराइयों का, कचहरी के दमघोंटू वातावरण का तथा ढोंगी भक्तों की रासलीला के अंकन बहुत मर्मस्पर्शी हैं। इस उपन्यास में असफल चित्रण केवल रायसाहब का है, रायसाहब के चित्रण से यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि प्रेमचंद लोक-विलक्षण पात्र की रचना के लिए थे ही नहीं। ग्रामीण पात्रों में व्यक्तित्व भरने में वे बहुत कुशल सिद्ध हुए हैं। इस उपन्यास में उन्होंने एक आदर्श पात्र के द्वारा सुख शांति की नयी कल्पना करायी है, जो आज भी ग्राह्य न हो, पर अभिमत कथमपि नहीं है।

'निर्मला' की नायिका दहेज न पूरा होने के कारण दूसरी जगह सगाई होते हुए भी एक बुड्ढे वकील से ब्याही जाती है जिसके तीन बेटे पहले से मौजूद हैं। निराश नवबधू को पति से अतिशय प्रेम क्या आदर मिलता है, पर साथ ही डाहजनित सन्देह भी। इस सन्देह का कारण है वृद्ध की अन्धी कामलालसा। इसीलिए वह अपने जेठे पुत्र और स्त्री के बीच अनुचित सम्बन्ध का सन्देह करता है और यह सन्देह धीरे-धीरे समस्त परिवार को भस्म कर डालता है। पहले उपेक्षा का आघात न सहकर बड़ा लड़का चल बसता है, इसके बाद मझला लड़का चोरी करके भागना चाहता है।

भेद खुलने पर वह भी आत्महत्या कर लेता है, सबसे छोटा विरक्त होकर साधु हो जाता है। अब लड़कों के पिता भी पुत्र-विरह में विकल होकर घर से निकल पड़ते हैं। अकेली निर्मला को उसका सगाईवाला पुरुष प्रेम-फाँस में घेरता है। असफल होने पर वह भी आत्महत्या कर लेता है। निर्मला भी अन्त में घुलकर मर जाती है। उसकी चिता के जलने के समय उसका पति लौटता है। निर्मला की चिता को आग देते-देते उपन्यासकार कुत्सित विवाह-परम्परा को भस्म कर देना चाहता है। वैसे इस उपन्यास का प्रभाव बड़ा तीव्र और करुण है, पर इतनी आत्महत्याओं के एक साथ ताबड़तोड़ घटित होने से उपन्यास बहुत ही अतिरंजित हो गया है, जैसे प्रेमचन्द ने करुणान्त उपन्यास का प्रयोग करने के लिए इसे लिखा हो और उसमें विफल रह गये हों।

'कायाकल्प' भी प्रेमचन्द का दूसरा बहुत बड़ा असफल प्रयोग है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' के बीच प्रेमचन्द बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटके हैं। 'कायाकल्प' में जन्मान्तर और परकाय-प्रवेश-विद्या आदि रहस्य-मय चीजों से लेकर जीती जागती सामाजिक समस्याएँ समेटी गयी हैं। जहाँ तक कथाशिल्पविधान का प्रश्न है, यह उपन्यास बहुत ही पूर्ण है, परन्तु इस उपन्यास की रीढ़ बहुत ही कमजोर है। यों केवल चक्रधर की कहानी इस उपन्यास में चलती और बीच में देवप्रिया का झंझट न आता तो उपन्यास बहुत सुन्दर बन पड़ता।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने सामाजिक और राजनैतिक तत्वों का सुन्दर समन्वय किया है और सूरदास में उन्होंने अथक कर्मठ और सचेत मानवात्मा की सृष्टि की है। सूरदास गांधीवादी आदर्श का ज्वलन्त प्रतीक है और इसलिए वह सत्य की रक्षा में प्राणत्याग भी करता है। इस उपन्यास में पूँजीवादी शोषण की मीमांसा बहुत सुन्दरता के साथ की गई है, पर उस शोषण के अन्याय के विरुद्ध जो स्वर उठाया गया है वह विफल स्वर है। अन्तर्जातीय प्रेम-सम्बंध के सामने लाने के लिए विनय और सोफिया की निर्मल प्रेमकथा भी समाविष्ट है। विप्लववाद की पराजय विनय में दिख-

लाई गयी है। 'रंगभूमि' में पात्रों का अभिनय अन्त तक बहुत सफल और प्रभावशाली हुआ है। कथा का विकास भी बहुत ही सुन्दर है, केवल विनय की राजस्थान यात्रा समझ में नहीं आती। सूरदास के उज्ज्वल आदर्श में प्रेमचन्द सिद्धि तो नहीं पाते, पर एक निश्चित दिशा वे अवश्य पा जाते हैं।

'गबन' मध्यवर्ग की घरेलू समस्या, अहंमन्यता और दिखावे के मोह को केन्द्रित करके लिखा गया है। इसका नायक रमानाथ सामान्य स्तर का युवक है जो अपनी गहना-भक्त पत्नी के सामने अपना पुरुषत्व सिद्ध करने के लिए गहना उधार लाता है और अन्त में अपने आफिस का रुपया गबन करता है। बस वह लज्जा में गड़कर भाग खड़ा होता है। भागकर वह कलकत्ते पहुँचता है और वहाँ उसे एक शराबी पर देवतुल्य निम्नवर्ग के आदमी —देवीदीन खटिक—से भेंट होती है जो उसे अत्यन्त स्निग्ध आश्रय देता है। परन्तु भीरु रमानाथ पुलिस के हौवे से इतना काँपता रहता है कि एक दिन वह सचमुच संदिग्ध मुद्रा में होने के कारण गिरफ्तार हो जाता है। पुलिस उसे निरपराध पाती है पर उसका उपयोग कुछ गिरफ्तार आतंकवादियों के विरुद्ध झूठी गवाही देने में करना चाहती है। रमानाथ अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति है, वह मुखबिर बन जाता है। जालपा इस बीच में उसे खोजती हुई पहुँचती है पर उसे पुलिस के फाँस से मुक्त नहीं कर पाती। क्रांतिकारियों को सजा हो जाती है और जालपा पति से बिल्कुल खिन्न हो जाती है। पर जिसे साध्वी नहीं सुधार पाती, उसे एक वेश्या जोहरा सुधार लेती है और रमानाथ फिर से हाईकोर्ट में गवाही देकर क्रांतिकारियों को छुड़ा लेता है। रमानाथ और जालपा अन्त में मिलते हैं और खेती के काम में लग जाते हैं।। यही इस उपन्यास की संक्षिप्त कथा है। यह उपन्यास प्रेमचन्द की दूसरी सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें जो पात्र रखे गये हैं, वे सभी बहुत ही सजीव और मानवीय हैं, सभी में कुछ दुर्बलता है और कुछ ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति भी है। यथार्थ के दायरे से कोई भी पात्र बाहर नहीं जाता। हीन वर्ग के एक खटिक देवीदीन के हृदय की उज्ज्वलता में तो

प्रेमचन्द ने कला को नहला-सा दिया है। देवीदीन में वह सच्ची देशभक्ति और हार्दिक उदारता भरते हैं और उसके परिपार्श्व से बगुला भगतों और बड़ी कोठीवालों पर निर्मम आघात भी करते हैं। रमानाथ की ढुलमुल यकीनी प्रवृत्ति का चढ़ाव-उतार भी बहुत सफलता के साथ व्यंजित हुआ है। स्त्री पात्रों में जोहरा कुछ आदर्श की ओर झुकी हुई है, और उसमें आरंभ में दुर्बलता होते हुए भी बाद में अपूर्व ओज आ जाता है। देवीदीन की बुढ़िया पत्नी में उस स्नेह की उच्छल धार मिलती है जो ऊपर से बहुत कर्कश और तीखी पथरीली होती है पर भीतर बहुत स्वच्छ और मधुर। केवल जोहरा इस उपन्यास की दुखिया पात्र है जिसे डूबकर मरना ही बदा होता है। पुलिस के हथकण्डों का इस उपन्यास में बहुत सुन्दर अंकन हुआ है। उपन्यास समूचा बहुत सुगठित और भावाग्र है। अंत में घटनाओं का प्रत्यावर्त्तन कुछ अप्रत्याशित अवश्य है, किन्तु सुखान्तता से उपन्यास में अधिक शक्ति आ गयी है।

'कर्मभूमि' १९३१ के सत्याग्रह आन्दोलन से प्रभावित उपन्यास है। इसमें साम्प्रदायिक समस्या, हरिजन समस्या और किसान-समस्या बहुत उभड़े हुए रूप में आयी हैं। पारिवारिक जीवन के भी वैषम्य, प्रेम वात्सल्य और संघर्ष अनेक पक्ष इसमें संस्पृष्ट हुए हैं। उपन्यास का नायक अमरकान्त एक सेठ का लड़का होते हुए भी आन्दोलन की आँच से गरम है, इसलिए शुरू से ही वह खद्दरधारी स्वयंसेवकी का पथ अपनाता है, यह उसके आरामतलब पिता और उसकी सुखपली पत्नी को नहीं भाता। पत्नी से प्रेम न पाकर वह एक गरीब मुसलमान युवती सकीना की ओर आकृष्ट होता है। बात खुलने पर वह दूर चमारों की बस्ती में रहकर सेवाकार्य करने चला जाता है, वहाँ उसे अपने पुराने मित्र सलीम से ही किसान आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए मोरचा लेना पड़ता है। बाद में तो सभी पात्र उसी आन्दोलन के प्रवाह में बहकर एक साथ जेल-यात्री होते हैं। अन्त में सरकार झुक जाती है और कैदी रिहा होते हैं। इसी बीच अमरकान्त के जीवन में गोरे द्वारा भ्रष्ट की गयी मुन्नी भी आती है। उपन्यास

में नवजीवन को निर्माण करने के लिए कई एक शक्तियों को जन्म दिया गया है और यथार्थवादी कर्मशीलता को बराबर जगाया है। अमरकान्त रमानाथ की तरह न तो दुर्बल है और न प्रेमशंकर की तरह एकदम आदर्श, वह युवक सुलभ दुर्बलताओं से ग्रस्त रहते हुए भी देश को अग्रसर ले जाने में सदा गतिशील रहता है। स्त्री पात्रों में सकीना और मुन्नी का चित्रण बहुत हृदय-स्पर्शी हुआ है। राजनैतिक उत्साह से उपन्यास ओत-प्रोत है और कुछ लोग भले ही यह दोष लगायें कि उपन्यास का अन्त इसकी शक्ति के प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है, पर सच्ची बात यह है कि प्रेमचन्द सदा मनुष्य की सुजनता में विश्वास करते हैं और वे संघर्ष को बहुत अधिक कटुता तक नहीं ले जाना चाहते। इसी से उनके समाधान में शांतिप्रियता की छाप रहती है।

'गोदान' जो लगभग उनकी अंतिम कृति है सर्वथा निर्दोष और उदात्त-तमकृति है। इस उपन्यास की श्रेष्ठता के बारे में यथार्थवादी और आदर्श-वादी दोनों आलोचक दो राय नहीं रखते। उपन्यास क्या है, किसान के जीवन संघर्ष की दुःख-गुंफित गाथा है, जिसका अंत उसके मजूर होने में हो जाता है। किसान की खेती पर जितने ग्रह रहते हैं, उन सब को नष्ट करने का प्रयत्न किये बिना ही उपन्यासकार ने पाठक को विध्वंसिनी घृणा का पात्र बना दिया है। किस प्रकार होरी-सा सम्पन्न किसान जिसका परि-वार भरा-पूरा है, और अपनी मिहनत से कमाई करके खाते-पीते मजे में है, एक गाय रखने के लोभ में दरिद्रता की ओर झुकता है और फिर सँभल नहीं पाता यही चित्र अंकित किया गया है। गाय भोला के यहाँ से उधार आती है और होरी का भाई हीरा ईर्ष्यावश जहर देकर उसे मार डालता है। इसी बीच होरी का लड़का गोबर भोला की विधवा लड़की झुनिया से प्रेम करता है और फिर उमंग में आकर उसके साथ शहर जाकर मजदूरी करने लगता है, पर वह मजदूरी स्वीकार करता है अपने मन से, विवशता से नहीं। होरी को फिर कर्ज लेकर अपनी जेठी बेटी का विवाह करना पड़ता है और वह इस कर्ज के भँवरजाल में सदा के लिये फँस जाता है।

अंत में दूसरी लड़की का विवाह वह बूढ़े से करने को बाध्य होता है। उस पर भी उसके पुरखों की थाती जमीन उससे छिन जाती है। अंत में वह भी मजूरी करने के लिए उतर पड़ता है, पर विवश होकर। मजूरी में उसकी देह टूट जाती है, मरती बेला फिर उसके सामने गऊ आती है और उसकी स्त्री धनिया उसका गोदान किन करुण शब्दों में सम्पन्न कराती है, उसी के मुख से सुनिए, "घर में न गाय है, न बछिया, यह बीस आने पैसे हैं, यही उनका गोदान है।" इस उपन्यास में दुःख की सजीव मूर्ति होरी बहुत यथार्थ रूप में आता है। ईर्ष्या, अभिमान, क्रोध, भीरुता, स्वार्थ, चपलता आदि कोई भी दुर्बलता नहीं है जिससे वह ऊपर हो, पर इनके बावजूद वह अपने समूचे असंख्य मूकवर्ग का प्रवक्ता बनकर सामने आता है। उसमें प्रेम, सहयोग, त्याग, उदारता और सहिष्णुता के साथ-साथ जो अंतिम गुण विकसित होता है, वह है विद्रोह जो उसे अपने टाइप से ऊपर उठाकर विशिष्ट बना देता है। धनिया का चित्रण भी व्यवहार-कुशल किसान स्त्री के रूप में बेजोड़ है। लड़ाकू, असहनशील और खरी होने के साथ वह विशाल और उदारहृदय है। 'गोदान' में मध्यवर्गीय शिक्षित समाज की कहानी भी समानांतर चलती है और वह केवल नागरिक पात्रों की ऐसी पृष्ठभूति तैयार करने के लिए है जिनको पैमाना बनाकर खेतिहर की ऊँचाई नापी जा सके। नागरिक चित्रण में प्रेमचन्द उतने सफल न हों, पर उस पृष्ठभूमि का अभीष्ट प्रभाव डालने में वे सफल हैं। गोबर उच्छृङ्खल उमंगशाली किसान युवक के पतन का मानचित्र है, जो नई पद्धति में उभरना चाहता है पर स्वयं क्षुद्र स्वार्थ में फँस जाता है। समाज के अन्य टाइपों का अंकन भी बहुत मार्मिकता के साथ हुआ है। समूचा उपन्यास नुकीले व्यंगों और सरस विनोदों से आप्लुत है, इसी से व्यथा का भार कुछ हलका होता गया है, वैसे समग्र 'गोदान' दुःख-दर्द से भरा हुआ है। यह खेतिहर के ढालुए ह्रास का चित्र है। प्रेमचन्द की कला ने 'गोदान' में अपनी असली पहचान पायी है और अकेले 'गोदान' के कारण वे अमर हैं। 'गोदान' अकेले होरी के ही नहीं, स्वयं प्रेमचन्दजी के भी

जीवन का महाकाव्य है।

'मंगलसूत्र' जिसे वे पूरा न कर सके उनकी अंतिम रचना है। इस उपन्यास तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें आदर्श साधना की निष्फलता का बोध होने लगा था और इस उपन्यास में अपनी कष्टमयी साहित्य साधना की कहानी सुनाने वे बैठे थे। बहुत दुर्भाग्य की बात है कि यह रचना पूरी न हो सकी। इसमें विद्रोह की आवाज अधिक स्पष्ट है। जितना है, उतने से ही उपन्यास की प्रौढ़ता का प्रमाण मिल जाता है, पर अधूरा होने के कारण कोई स्थिर राय नहीं कायम की जा सकती।

सवासदन

'सेवासदन' प्रेमचन्द की हिन्दी में पहली कृति होते हुए भी इतनी प्रौढ़ और उदात्त है कि उनके समस्त उपन्यासों में अनायास ही विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेता है। आज से ३७ वर्ष पूर्व के संकीर्ण वातावरण में वेश्या-समस्या पर इतनी उदार अन्तर्दृष्टि से विचार करना भी बहुत असंभव जान पड़ता है, परन्तु प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में सोये हुए समाज के विष को मथकर निकाल दिया है, साथ ही विष का अत्यन्त मनोरम उपचार भी उन्होंने प्रस्तुत कर दिया है। मध्यवर्ग की दुर्बलताओं के चित्र उन्होंने 'निर्मला' और 'गबन' में भी खींचें, पर उस वर्ग का जितना सूक्ष्म विश्लेषण 'सेवासदन' में दिया उतना बाद के उपन्यासों में नहीं। इस वर्ग की सबसे बड़ी दुर्बलता कायरता का उन्होंने बहुत सुन्दर ढंग से इसमें अनावरण किया है। प्रारंभिक कृति होने के कारण अपनी ओर से कुछ अधिक विस्तृत समीक्षा भी इसमें मिलेगी, और कहीं-कहीं वार्त्तालापों में अनावश्यक प्रसार भी मिलेगा, जो कि प्रस्तुत संक्षिप्त सस्करण में काट दिया गया है, पर समग्र दृष्टि से उपन्यास ज़ोला और डास्टावेस्की की निर्मम नग्नताओं से विरहित जीवन दर्शन है।

उपन्यास की विस्तृत आलोचना करने के पूर्व संक्षेप में उसका कथानक यह है। मध्यवर्ग की एक सुरूप गुणवती लड़की निम्नमध्यवर्ग के युवक के साथ ब्याही जाती है, और उसका मिथ्यागर्व उसके गृहस्थ जीवन को

विषाक्त बनाता चला जाता है। इसी समय जब वह हीन रूप-गुण-सम्पन्न वेश्या को समाज में अधिक समादृत पाती है, तो उसके मन में पाप-पुण्य का अन्तर्द्वंद्व मच जाता है। अन्त में समाज की कछुआ-मनोवृत्ति के कारण वह मिथ्यालांछन पाकर एक दिन वेश्यावृत्ति धारण कर लेती है। बाद में व्यक्तिवादी सुधारकों के प्रयत्न से वह उस वृत्ति को छोड़ देती है। इसी बीच उसके नैतिक पतन का फल उसकी छोटी बहन को भोगना पड़ता है, जिसकी बारात दरवाजे पर आकर लौट जाती है। वह बहन भी उसी की स्नेहछाया में आती है। इस बीच समाज का विवेक कुछ जाग्रत होता है और वह छोटी बहन को फिर ग्रहण कर लेता है, परन्तु बड़ी बहन को समाज अन्त तक नहीं ग्रहण करता, वह 'सेवासदन' नाम से एक सस्था खोलकर पतित बहनों के उद्धार-कार्य में लग जाती है। यहाँ तक कि उसका पति भी, जो उसे इस सेवामार्ग पर लाता है, उसे अपना स्नेह नहीं दे पाता। यही इस उपन्यास का विवश और करुण अन्त है। जो सुधरना चाहता है, उसके लिए सुधरने की राह नहीं है, यही गलित समाज की पिशाचिनी दुर्बलता और इस दुर्बलता का बोध चाहे जितना भी समाज को हो जाय, उसमें उस ऊँचे नैतिक बल का अभाव है जिससे इसको दूर कर सके। आज के युग में यह शोचनीय परिस्थिति कटु सत्य बनी हुई है, यद्यपि समाज अधिक प्रबुद्ध हो गया है। इस उत्थान की चेतना प्रेमचन्द जैसों ने जगायी, अब आचरण की चेतना जगाने के लिए कोई साहित्यकार चाहिए। यह तो संक्षिप्त परिचय हुआ।

अब कहानी का फैलाव यों है। कृष्णचन्द्र एक ईमानदार थानेदार हैं, और उनकी दो बेटियाँ हैं, सुमन और शान्ता, अत्यन्त सुरूप और सुशील। कृष्णचन्द्र पहले तो बहुत लाड़-प्यार से इनका पालन करते हैं और भविष्य की चिन्ता दुश्मनों के लिए छोड़े रहते हैं। पर जब सुमन विवाह के योग्य हो जाती है, तो उनकी आँखें खुलती हैं और उन्हें अपनी ईमानदारी पर पछतावा होता है। अंततोगत्वा वे पहली बार फिसलते हैं और अपने इलाके के एक मोटे असामी महन्त रामदास से निर्मम होकर एक मामले

में रिश्वत लेते हैं। रिश्वत की कला में अनभ्यस्त होने के कारण और पाप-पथ में नया उत्साह रखने के कारण दूसरों को साझीदार नहीं बनाते, फल यह होता है कि वे पकड़ लिए जाते हैं। पकड़े जाने पर उनका विवेक पुनः जाग उठता है और वे जुर्म भी कबूल लेते हैं। उन्हें पाँच साल की कैद होती है और उनकी पत्नी अपनी दो बेटियों को लेकर अपने भाई उमानाथ के यहाँ चली जाती है। घूस के रुपए मुकदमे की पैरवी में ही चुक जाते हैं और सुमन की शादी बरबस १५) मासिक पानेवाले एक निम्नवर्ग के शहरी युवक गजाधर के साथ कर दी जाती है।

सुमन को पति के घर में आते ही अपने प्रतिकूल वातावरण मिलता है। उसको अपने रूप का और गुण का अनुचित अभिमान पति की सहानुभूति से वंचित रखता है। जिन्दगी नरक हो जाती है। इस बीच अपनी पड़ोसिन वेश्या भोली को पहले डाह करती हुई भी वह उसकी ओर खिंच जाती है। फिर पति के डाँटने पर सँभलती है और घटनाचक्र उसे पड़ोस के मध्यवर्ग के वकील पद्मसिंह शर्मा की पत्नी सुभद्रा से जोड़ देता है। सुभद्रा का आर्थिक स्तर उससे ऊँचा है और फिर वह असन्तोष की आग में सुलगने लगती है। अंत में इसका विस्फोट होता है जब कि होली के दिन शर्माजी के यहाँ चुनाव की जीत की खुशी में भोली का मुजरा होता है और उस मुजरे में वह यह देखती है कि समाज के ऊँचे कहे जानेवाले लोग भी जितना दूकान में रखे नकली रूप के पीछे पागल रहते हैं, उतना घर के सौंदर्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। वह बड़ी रात में जब घर लौटकर आती है तो उसको डंडा ताने पति मिलता है, जो शर्माजी के साथ दुराचार का आरोप लगाकर सुमन को घर से निकाल देता है। सुमन इसी समय चूकती है और वह लौटकर फिर अपनी बदनामी की जगह—शर्माजी के यहाँ आश्रय लेती है। इससे बदनामी को और बल मिलता है और साधु एवं सज्जन शर्माजी भी लोकभय से प्रताड़ित नारी को निराश्रित कर देते हैं। इतने चपेटों का आघात सहकर मानवती सुमन आवेग में आकर प्रतिहिंसा की भावना से भोली का आश्रय ले लेती है।

तब भी वह उस बयार में अपना शरीर बेचने के लिए नहीं राजी होती है, क्योंकि वह वास्तव में आदर की भूखी है, वासना की तृप्ति उसकी माँग नहीं है।

इस बीच सुमन का पति गजाधर भी अपनी भूल समझता है और शर्माजी के सौजन्य और सहानुभूति से प्रभावित होकर उनकी ओर से अपना हृदय साफ कर लेता है। शर्माजी की बदनामी को सारे शहर में फैलानेवाले एकनिष्ठ समाजसेवी विट्ठलदास को भी पीछे परिताप होता है जब वे यह जान जाते हैं कि उन्हीं लोगों के उत्पीड़न से ऊबकर सुमन कोठे पर बैठ गयी है। विट्ठलदास व्यक्तिवादी सुधारक हैं और समाज से अधिक व्यक्ति के उन्नयन में वे अधिक विश्वास करते हैं। समाज-सेवा का व्रत भी उनका व्यक्ति के उन्नयन का एक साधन है। इसलिए वे तुरंत इस पाप का दायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं और सुमन के उद्धार के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। अंत में सुमन को वे अपने विधवाश्रम में लाने के लिए राजी कर लेते हैं। इस बीच सुमन का हृदय अलक्षित गति से शर्माजी के सैलानी अबोध भतीजे सदनसिंह की ओर खिंचता चला जाता है। सदनसिंह गाँव से भागकर शहर में कुछ सीखने-पढ़ने आता है और अपने चचा के दुलार से बिगड़कर रूप की गली में चक्कर काटने लगता है। उसका किशोर हृदय सुमन के लिए बिल्कुल समर्पित हो जाता है और उसके निश्छल प्यार से सुमन को बड़ी तृप्ति और दर्द एक साथ मिलते हैं। सुमन अपने प्यार की बेकली को बहुत छिपाकर रखती है क्योंकि वह सदनसिंह को बरबाद नहीं होने देना चाहती। विधवाश्रम में जाकर वह आदर्श त्यागशील रमणी बन जाती है और अपने सद्गुणों का विकास करने लगती है।

विट्ठलदास की प्रेरणा से शर्माजी म्यूनिसिपैलिटी में यह प्रस्ताव रखने की तैयारी करते हैं कि वेश्याओं को नगर से दूर रखा जाय और सार्वजनिक उत्सवों में उनके मिलने-जुलने पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। प्रस्ताव पास तो हो जाता है पर शर्माजी जो यह संशोधन स्वीकार कर लेते हैं कि वेश्याओं को गृहस्थ जीवन में फिर से बसने का नौ महीने का मौका दिया जाय,

इससे उनके समर्थक उनके शत्रु हो जाते हैं। इस बीच घटनाओं के विचित्र संयोगवश सदनसिंह का विवाह सुमन की बहन शान्ता से तै होता है। शान्ता के दहेज का प्रबन्ध सुमन का पति गजाधर करता है, जो सुमन के वेश्या हो जाने पर अपनी भूल के परिमार्जन के लिए स्वामी गजानन्द का चोला धारण करके लोक-कल्याण में लग गया है। शान्ता के पिता कृष्ण-चन्द्र भी जेल से छूटकर आ गये हैं। दुःखों ने उनका मन विश्रृंखल कर दिया है और जब गाँव के कुचालियों की चुगली से सदन की बारात में यह खबर पहुँचा दी जाती है कि शान्ता उसी सुमन की छोटी बहन है, जो अब वेश्या हो गयी है, और पद्मसिंह शर्मा के विनीत अनुरोध को ठुकराकर सदन के पिता मदन बारात वापिस ले जाने लगते हैं, तब कृष्णचन्द्र सब हाल जानकर एकदम टूट-से जाते हैं। अपना समस्त मानसिक सन्तुलन खोकर उन्होंने अपने वर्ग की असली त्रुटि समझ ली, आत्महत्या के लिए चलने के पहले उन्होंने शान्ता को समझाते हुए बतला भी दिया 'कुछ नहीं, यही कि सन्तोष को कभी मत छोड़ना।' असन्तोष के ही कारण इस वर्ग की इतनी दुर्गति है और सेवासदन असन्तोष एवं कायरता की ही ट्रेजेडी है। अपरिपक्व और विलासी सदनसिंह भी विवाह के लिए रूप सुनकर उमंगित हुआ था, पर कलंक को पाने का साहस उसमें पहले नहीं था। जब वह शहर लौट के आया और वेश्या-सुधार आन्दोलन को उसने तन्मय होकर देखा, तो उसके संस्कार उदय हुए, उसके मन में आदर्श की प्रेरणा जगी। इस प्रेरणा में उसे बहुत बड़ा बल सुमन की विरागी मूर्ति के दर्शन से भी मिला। सुमन के प्रेम ने उसे ऊँचा उठाने में बहुत बड़ा योग दिया और जब मामा के घर पारिवारिक अत्याचारों को हँसते-हँसते झेलनेवाली शान्ता पद्मसिंह शर्मा और विट्ठलदास की कृपा से पुनर्विवाह की फाँसी से मुक्ति पा जाती है, साथ ही मुकदमेबाजी की जलालत से अपने श्वसुर कुल को बचा लेती है, तो आतृकातर पद्मसिंह उसे सुमन की छाया में लाकर रख देते हैं।

शान्ता की विपदा और पिता की मृत्यु सुमन के परितप्त हृदय को और

भी अधिक गला देते हैं और वह आत्महत्या की ओर झुकती है। वही गजाधर, अब गजानन्द, उसे सेवा और आत्मनिषेध के परमपथ का दर्शन कराते हैं और वह शान्ता के लिए जीवन-क्षेत्र में लौट आती है। सदनसिंह जिसकी एक दिन सुमन और शान्ता से भेंट हो जाती है और जिसको सुमन शान्ता को ग्रहण करने की प्रेरणा देती है, बहुत बड़े संकल्प को लेकर अदम्य विश्वास के साथ संघर्ष में कूदता है और परिश्रम करके वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किश्ती के धन्धे में बना लेता है। तभी एक दिन समाज के उन ढोंगी बर्बरों के दुष्प्रयत्न से विधवाश्रम में यह खबर उड़ा दी जाती है कि सुमन वेश्या है और पद्मसिंह शर्मा ने विट्ठलदास को मिलाकर उसे यहाँ रखा है, जिसका परिणाम यह होता है कि चुपचाप शान्ता को लेकर सुमन वहाँ से चली जाती है और यकायक वह सदन की कुटिया के सामने अपने को पाती है। सदन उन्हें आश्रय देता है और शान्ता को स्वीकार करता है। शर्माजी अपनी स्वीकृति इस पर दे देते हैं, परन्तु वे अपने जमींदार भाई की स्वीकृति की चेष्टा में तब तक विफल रहते हैं, जब तक शान्ता को पुत्र नहीं पैदा हो जाता है। सुमन अपने को मिटाकर नवदम्पति की सेवा करती है, पर नवयौवन के उन्माद में पति-पत्नी दोनों उससे बिचकते चले जाते हैं, अन्त में जब सदन के माता-पिता अपने पौत्र की छठी में शरीक होने आते हैं तो सुमन वहाँ से भी चली जाती है। फिर वह अपने स्वामी से आलोक माँगती है और वह उसे पतिताओं के उद्धार-कार्य में सेवा और प्रेम को नियोजित करने का रास्ता बतलाता है। तब सुमन जाकर शर्माजी के सदुद्योग से बनी 'सेवासदन' नामक संस्था का भार अकेले सँभालती है और योग्यतापूर्वक उस भार को निबाहती भी है। अन्त में उसके इस उत्कर्ष को समाज स्वीकार भी करता है, पर तब भी उसको सहानुभूति देने में स्वयं शर्माजी को लाज लगती है। यहीं आकर उपन्यास समाप्त हो जाता है। सुमन के ऊँचे आदर्श की व्यवहार में कितनी निस्सारता है, बस इसकी तीव्र करुणा उमड़ाकर उपन्यास रुक जाता है।

कथानक का विस्तार बहुत सहज ढंग से हुआ है और यद्यपि इसमें

संयोग का बीच-बीच में महत्वपूर्ण हाथ है, पर समष्टि रूप से यथार्थ जीवन के घात-प्रतिघात के संघर्ष के बीच में से कथा का निर्दिष्ट दिशा में विकास हुआ है। मोटे तौर पर इस उपन्यास में दो कहानियाँ चलती हैं, बड़ी कहानी सुमन और गजाधर उर्फ गजानन्द की जिसका अन्त करुणा में जाकर होता है, और छोटी कहानी शान्ता और सदन की, जिसका अन्त सुखमय मिलन में। इस उपन्यास को नारी-पुरुष के संबंध को छोड़कर अन्य पारिवारिक सम्बन्ध को जहाँ-तहाँ संस्पर्श-मात्र मिल सका है, समाज का भी केवल एक विशिष्ट समस्या को लेकर चित्र उपस्थित किया गया है। कहीं-कहीं दूसरी सामयिक माँगों की ओर उड़ता हुआ इशारा-भर दे दिया गया है। कथा का निर्वाह बहुत ही सुन्दर हुआ है. अन्त की ओर सूक्ष्म अभिव्यंजना देने के प्रयास में कुछ आकस्मिकता अवश्य आ गयी है। शर्माजी, विट्ठलदास, सदन और गजानन्द एक उद्देश्य की साधना में बराबर लगे रह कर भी किस तरह अन्त में बिखर जाते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। उस तरह कष्ट में तपी हुई साध्वी शान्ता की सुमन के लिए उदासीनता भी अस्वाभाविक लगती है। इस उपन्यास की यह क्षमता प्रेमचन्द के युग की अक्षमता है। प्रेमचन्द का समाज सुषुप्त और जर्जर है, वे अपनी सुमन को पवित्रतम बनाकर भी आदर-मात्र दिला पाते हैं, उसके नारीत्व को मातृत्व में तो परिणत कर देते हैं, परन्तु उसकी नारी को विफल ही बने रहने देते हैं। दोनों सहकथाओं की विसंगति तत्कालीन समाज की विसंगति है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में वेश्या-समस्या को उभाड़ तो दिया है और अपनी ओर से आत्मविकासात्मक समाधान भी देने का उन्होंने प्रयत्न किया है पर इस समस्या की सामाजिक दवा उनके पास नहीं है। वे स्वयं सुमन के मुख से स्वीकार करते हैं कि "हमारा कर्त्तव्य यह है कि इन (पतित) कन्याओं को चतुर गृहणी बनाने के योग्य बना दें। उनका आदर समाज करेगा या नहीं, मैं नहीं कह सकती।" इसलिए वे अपने पुरुष पात्रों को एकत्रित न कर सके। कथानक से तुरन्त हमारा ध्यान चरित्र-चित्रण की ओर जब सरकता है, तो हमें लगता है कि

'सेवासदन' अकेले सुमन को देकरही कृतकृत्य है। सुमन अपने मध्यवर्गी कुसंस्कारों तथा शिक्षाओं के कारण निर्मम समाज-व्यवस्था की सहज शिकार बन जाती है, पर शिकार बनकर भी वह उठती है और लम्बी एवं अपेक्षा-भरी जीवन-साधना में निखरकर पवित्रतम बन जाती है। वह कितनी सक्षम है, यह अंतिम भेंट में सुभद्रा की आत्म-लज्जा से प्रकट हो जाता है। वह बचपन से ही ऊँचे आशय और ओजवाली है, पर प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर उसके ओज तथा उच्चाकांक्षा का दुर्विनियोग होता है और वह शोषक पति से विद्रोह कर बैठती है क्योंकि देखती है कि उससे हीन रूप और गुणवाली बाजारू औरत को उच्च-से-उच्च स्तर के लोगों से आदर प्राप्त है किन्तु इतना रूप-गुण-सम्पन्न होने पर उसे इतना अविश्वास, संदेह और निरादर मिलता है। इसी से भोली जब उसके सामने पति का नाम लेती है तो उसकी आग भड़क उठती है। सुमन अंत तक अपनी आग को सुलगाये रखती है। वेश्यावृत्ति स्वीकार करके भी उसका ओज नहीं कम होता; यही नहीं, वह विधवाआश्रम में आकर भी कृपादान की आश्रित नहीं रहना चाहती, वह अपनी सेवा-कुशलता से आश्रम को सुव्यवस्थित कर देती है। जब वह अपने कारण आश्रम में आपत्ति देखती है तो उसे भी छोड़ देती है। और अन्त में शान्ता-सदन का मिलन कराके उनकी गृहस्थी को बसाकर उनकी विरसता भी सहन नहीं कर पाती और उनके मार्ग से भी चुपचाप हट जाती है। अगर कोई उसकी सक्षमता को समझता है तो गजाधर उर्फ गजानन्द, जो खुले हृदय से उसको स्वरूप-परिज्ञान कराते हुए बतलाता है, "तुम्हारे हृदय में दया है, प्रेम है, सहानुभूति है और सेवाधर्म के यही मुख्य साधन हैं।" गजानन्द भी उसे उसका असली प्राप्य प्रेम नहीं दे पाता, पर पूरे उपन्यास में वही अकेला पात्र है जो सुमन को जीवन के लिए उकसावा देता रहता है, सुमन को आत्मोन्नति में आत्मिक प्रेरणा उसी से मिलती है। शर्माजी और विट्ठलदास की कृतज्ञता वह आजन्म स्वीकार करती है और सदन को तो अबोध समझकर क्षमा ही कर देती है, पर उसके मन में यह कसक रह ही जाती है कि वह इतने त्याग के बाद

भी समाज की दृष्टि में अभी भी बाईजी रह जाती है। अपने जीवन-भर वह आत्मग्लानि में गलती रहती है, शर्माजी को कलंकित देखकर, शान्ता का रङ्गभङ्ग सोचकर और पिता की मृत्यु सुनकर अपने पतन के ऊपर वह रोती ही रहती है। वह अपने को इस 'रामलीला की कैकेयी' मानती है, पर तब भी उसे सहानुभूति नहीं मिलती। सुमन का पतन समाज का पतन है, पर सुमन का पुनरुत्थान केवल उसी का पुनरुत्थान है, उसके साथ समाज ऊपर नहीं उठ पाता, यही चरित्र का वैशिष्ट्य है जो बहुत ही गहरी छाप पाठक के ऊपर छोड़ जाता है।

गजाधर के चरित्र का उतार-चढ़ाव इतना स्वाभाविक नहीं है। आरंभ में वह सामान्य कोटि का निम्नमध्यवर्गी युवक है, संकीर्ण, ईर्ष्यालु और आत्मदंभी। वह सुमन की आकांक्षाओं की सिहरन को नहीं छू पाता और जैसा कि वह पीछे स्वयं कृष्णचन्द्र से स्वीकार करता है, "मेरी असज्जनता और निर्दयता, सुमन की चंचलता और विलास-लालसा दोनो ने मिलकर हम दोनों का सर्वनाश कर दिया।" वह सुमन को पहले सताता है, फिर उसे समझाता है और बाद में सुमन की व्यथा देखकर उसे बाहर घूमने-घामने का प्रोत्साहन भी देता है। इस प्रकार यह स्वयं खाई तैयार करता है। बाद में उसको उल्लसित देखकर वह फिर ओथेलो की तरह डाह में जलने लगता है, बस जरा-सा बहाना पाकर उसे निकाल बाहर कर देता है। कभी वह सुमन को समझने का प्रयत्न नहीं करता। हाँ, जब सुमन वेश्या हो जाती है, तब उसे अपने अत्याचार की असीमता का ज्ञान होता है पर वह अपने कर्म की सामर्थ्य न पाकर सेवामार्ग में पलायन ढूँढ़ता है। वस्तुतः गजानन्द का चोला उसकी पराजय और दुर्बलता का द्योतक है। यह विडम्बना की बात है कि दूसरों को कर्मशक्ति का मन्त्र देता रहता हुआ भी वह स्वयं इतना निर्बल है। वह दूसरों को सुधारता है, पर अपने में साहस नहीं बटोर पाता कि सुमन को फिर से ग्रहण कर ले। यह नहीं कि सुमन की पवित्रता से स्वयं प्रभावित न हुआ हो, बल्कि इसके ठीक उल्टे वह उसे श्लाध्य और आराध्य जानकर भी पीछे लौटकर गृहस्थी बसाने

का साहस नहीं रखता। उसके चरित्र-चित्रण में यकायक इतना ऊर्ध्वमुखीन विकास कुछ असंगत लगता है। यह व्यक्तिवादी आदर्श कल्पना में ही संभव हो सकता है, यथार्थ में प्रायः ऐसी चीज नहीं घटित होती कि सच्चे कर्म-क्षेत्र से भागनेवाला मानव दूसरों में आत्मविश्वास भरने की इतनी क्षमता रखे जितनी कि स्वामी गजानन्द में है। पर यह होते हुए भी इतना मानना पड़ता है कि उसके चरित्र में मानवीयता का लगाव कहीं नहीं छूटा है। वह अपने प्रायश्चित्त में तथा आत्मदर्शन में सच्चा मानव लगता है। उसकी व्यवहार-बुद्धि भी बहुत जागरूक है। शान्ता के विवाह के लिए रुपयों का प्रबन्ध वह इसलिए करता है कि शान्ता सुमन की भाँति सामाजिक विषमता की शिकार न बने, सुमन को आत्महत्या से इसलिए रोकता है कि शान्ता का भविष्य सुखमय हो सके और फिर सुमन को सेवासदन की ओर भी भेजता है ताकि उसके कुंठित और परितप्त नारीत्व को मातृत्व में कुछ सांत्वना मिले। वह अपनी असफलता से केवल इतना लाभ उठाता है कि भरसक दूसरों के मार्ग में वैसी असफलता नहीं आने देता, परन्तु वैसे स्वयं वह बिल्कुल टूट-सा गया है।

शर्माजी और विट्ठलदास दो प्रकार के समाज-सेवियों के मूर्त्त प्रतीक हैं—शर्माजी कछुआ वृत्तिवालों के और विट्ठलदास गैंडा मनोवृत्ति वालों के। कछुआ बहुत सँभलकर सिर निकालता है और तनिक भी आशंका होती है कि फिर बिल्कुल उसे सिमटा लेता है। उसी तरह समाज में कुछ ऐसे सुधारक होते हैं, जो जब तक सुधार-पथ निर्विरोध और निरापद पाते हैं, तब तक तो उत्साह के साथ उस पर बढ़ते रहते हैं, पर तनिक भी विघ्न-बाधा उन्होंने देखी कि बस अपने को सिकोड़ा। शर्माजी सुजन और सद्भावपूर्ण होते हुए भी इस वर्ग के सुधारकों की इस मानसिक दुर्बलता से युक्त हैं। गैंडे का स्वभाव होता है अकेले विचरण करने का, वह हमेशा शान के साथ प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियों में अकेले विहरण करना पसन्द करता है, इसी में उसे आत्मतृप्ति मिलती है। समाज में भी कुछ ऐसे एकनिष्ठ सेवाव्रती होते हैं जो विघ्न-बाधा की परवाह किये बिना अपने विवेक

के अनुसार आत्मसुधार को मुख्य साध्य मानकर समाज सेवा करते हैं। वे अतिशय न्यायप्रिय, सरल और निर्भीक होते हैं, पर दुर्भाग्यवश वे अपने ही ताप-अनुताप, पाप-पुण्य, विवेक-अविवेक और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के तुमुल संघर्ष में आगे-पीछे झूलते रहते हैं कि समष्टि को ठीक-ठीक समझने का उनके पास अवकाश ही नहीं मिलता। ऐसे लोगों का उत्साह तथा लगन बहुत अकारथ चला जाता है।

अब पद्मसिंह शर्मा को पहले समझने की कोशिश की जाय। वे मध्य-वर्ग के एक सच्चरित्र, त्यागी तथा सहृदय व्यक्ति हैं। वे पारिवारिक क्षेत्र में अपने दायित्व को बहुत त्याग के साथ निभाते हैं। स्वयं उनके मन में समाज के उत्थान की अनेक आकांक्षाएँ हैं, पर पारिवारिक सरसता तथा सामाजिक बन्धन को तोड़कर चलने की उनमें क्षमता नहीं है। वे आक्रमण और आत्मरक्षा दोनों में दुर्बल पड़ते हैं। सुमन को आश्रय न देने का कारण उनकी हृदयहीनता नहीं बल्कि कायरता है। इस कायरता का उन्हें परिताप भी होता है और वे सुमन के उद्धार के लिए चिंतित हो जाते हैं। सुमन के साथ उनके नाम को सुधार के आवेश में कलंकित करनेवाले विट्ठलदास को भी यह धुन लग जाती है कि शर्माजी की सहायता पाकर सुमन को फिर सत्पथ पर लायें। सुमन जब सत्पथ पर आ जाती है तो फिर शर्माजी बेफिक्र हो जाते हैं, परन्तु इस समस्या से वे इतने प्रभावित होते हैं कि वेश्या के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत बदल जाता है और वेश्या-संबधी अपने प्रस्ताव के संशोधन स्वीकार वे इसीलिए कर भी लेते हैं। पीछे जब इसके कारण उनके ऊपर छींटाकशी होने लगती है, तो वे चुप्पी साध लेते हैं। इसी प्रकार शान्ता की बारात लौटने से उन्हें बड़ा क्लेश है पर भाई से विनीत अनुरोध-मात्र करके वे रह जाते हैं, भाई या सदनसिंह को कसकर डाँटने का साहस नहीं दिखला पाते। उनकी सुजनता को जब तक कोई मार्मिक उकसावा नहीं मिलता, तब तक वह निष्क्रिय रहती है। शान्ता का केवल 'धर्मपिता' सम्बोधन उन्हें द्रवित कर देता है और वे शान्ता को बिदा कर लाते हैं, पर फिर भाई और लोकलाज का डर उनके पग बाँध लेता है।

फिर सदनसिंह जब स्वयं साहस बटोरकर शान्ता को ग्रहण कर लेता है, तो भी वे उसके औचित्य को मानकर भी 'भैया की राय लिये बिना हाँ या नहीं', करने में असमर्थ हैं। उनका भ्रातृप्रेम बहुत ही आदर्श है और उनकी दुर्बलताओं पर बहुत पर्दा डाल देता है। जब भैया की स्वीकृति भी मिल जाती है और परिवार में मिलन का शुभ दृश्य आ जाता है और सुमन से आँखें मिलाने का उनमें साहस नहीं है, जब कि वे स्वयं लोक-निन्दा की उपेक्षा करके वेश्याओं को सुधारने का काम करने लग जाते हैं। कारण स्पष्ट हैं, वे समाज की चेतना से आगे जाने में बहुत झिझकते हैं और ऊपरी उत्साह और प्रस्तावबाजी से यदि यश मिल जाय तो बस उसी से सन्तुष्ट रहते हैं। कूल तोड़कर उमड़ने का वेग उनमें नहीं है, यद्यपि सहानुभूति, दया, सज्जनता, सहिष्णुता, बलिदान, प्रेम और सद्भावना उनमें भरपूर है।

विट्ठलदास अपनी धुन का पक्का सच्चा समाज-सुधारक है; वह ढोंग, भीरुता और क्षुद्रता से बहुत ऊपर उठा हुआ है। उसका विवेक जिसको न्याय समझता है, बस वह तन, मन, धन से उसके समर्थन में लग जाता है और जिसको अन्याय समझता है, उसके पीछे वह डण्डा लेकर पड़ जाता है। उसकी सचाई और कर्मठता में कोई मीन-मेख नहीं निकाला जा सकता, परन्तु उसकी सबसे बड़ी विपत्ति उसकी संकुचित समाजदृष्टि है। वह समाज को अपने से पृथक् करके देखता है, इसीलिए अपने दायित्व के बोझ से ही इतना दबा रहता है कि समाज के दायित्व का भार वह सँभाल नहीं पाता। सुमन का वह उद्धार करता है इसलिए कि उसी की निन्दा के कारण पद्मसिंह शर्मा ने सुमन को अपने घर से निकाला और सुमन वेश्या बनने को विवश हुई, परन्तु सुमन की तरह जो दूसरी पतिताएँ हैं, उनकी चिंता उसके मन को नहीं मथती। वह अपनी निर्भीकता का परिचय भी देता है, जब कि समाज के ढोंगी ठेकेदार सुमन को विधवाश्रम से निकालने के लिए शोर मचाते हैं। उस समय वह सबसे लड़ने को तैयार हो जाता है, क्योंकि सुमन को लाने का दायित्व उसका निजी है, समाज का नहीं। पूरे समाज को वह

चुनौती देने की क्षमता रखता है पर समाज की दुर्बलता को अपनी दुर्बलता मानने की उदारता उसमें नहीं है। उसका चरित्र-चित्रण बहुत ही स्वाभाविक और सशक्त है। वह पाठक के ऊपर यह अभीष्ट छाप छोड़ने में सर्वथा सफल है कि सच्चे समाजसेवियों को भी अपनी दृष्टि बदलनी है, नहीं तो उन निष्ठावाले व्यक्तियों की तपस्या व्यर्थ जायेगी।

कृष्णचन्द्र इस उपन्यास के पुरुष पात्रों में सबसे अधिक संतप्त और करुण है और उसका अंकन भी बहुत ही मर्मस्पर्शी हुआ है। कृष्णचन्द्र सेवासदन की ट्रेजेडी का मूल जनक है। पुलिस की पापभरी नौकरी में ईमानदारी से जीवन बिताने की तीव्र प्रतिक्रिया में वह यकायक पुत्री के स्नेह में पाप कर बैठता है, पर उसका पाप छिपता नहीं और न केवल अपनी छोटी भूल की सजा ही भुगत कर रह जाता है, बल्कि वह अपने समस्त जीवन में ऐसा अभिशाप पा जाता है जिसकी जहरीली छाया में उसका परिवार-का-परिवार घुटकर समाप्त हो जाता है। बहुत कठिनता से उस विनाश से एक शान्ता का बचाव हो पाता है। इतने बड़े सीमातीत दण्ड को देखकर पाठक कृष्णचन्द्र का अपराध भूल जाता है और दण्डी समाज ही उसके सामने बड़ा अपराधी बनकर सामने आ जाता है। कृष्णचन्द्र दण्ड भोगने में बहुत बड़ा आत्मसंतोष पाता है पर जेल से लौटकर आने पर उसे लगता है कि उसके दण्ड को समाज पर्याप्त नहीं समझता और वह अपनी ससुराल में अपमान की रोटी तोड़ने को विवश हो जाता है। बाद में जब उसे सुमन की करुण कहानी यकायक सुनने को मिलती है तो उसका विशृंखल मन बिल्कुल ही टूट जाता है। मनुष्यता पर उसका विश्वास सदा के लिए उठ जाता है! हाँ इस तीव्र अनुताप की लौ में वह अपने वर्ग की भूल साफ-साफ देख लेता है और अपने एकमात्र अवशेष शान्ता को आगाह करके आत्महत्या करने चल पड़ता है। पहले तो सुमन के लिए उसके मन में घोर प्रतिहिंसा जगती है, पर गजानन्द के शान्त प्रबोधन से उसे क्षमा कर देता है। केवल अपना जीवन उससे सँभाला नहीं जाता और गङ्गा में कूद करके प्राण विसर्जन कर देता है। उसकी आत्महत्या बहुत ही स्वाभाविक

और करुण है। कृष्णचन्द्र का चरित्र आदर्श-रक्षा की सजीव विफलता का इतिहास है। "लकड़ी जल कोयला भई कोयला जल भई राख। मैं पापिन ऐसी जली कि कोयला भई न राख।" इस दोहे में कृष्णचन्द्र के करुण जीवन का मर्म आ गया है।

सदनसिंह अलहड़ और मनमौजी युवक है, जो अविद्या के अन्धकार में जब तक पड़ा रहता है, तब तक वह दूसरों के प्रभाव में बहता रहता है। जब वह सुमन के प्रेम की ज्वाला में तपता है, तब वह आत्म शिक्षण की ओर प्रवृत्त होता है। प्रवृत्त होने पर तो उसकी कायापलट हो जाती है, वह निखरकर आत्मावलम्बी और साहसी युवक होकर निकलता है। वह अपने कर्तव्य का ज्ञान हो जाने पर फिर लोक-निन्दा की चिंता नहीं करता और दृढ़ता के साथ शान्ता को फिर से ग्रहण करता है। परन्तु उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है सुमन के प्रति कृतघ्नता भरी उपेक्षा। जो सुमन उसे ऊँचा उठाती है, उसी को वह दूध की मक्खी की भाँति निकाल फेंकता है, यह उसके चरित्र की सबसे बड़ी कमजोरी है। उसके मानसिक विकास की विभिन्न घात-प्रतिघातमयी दशाओं का अङ्कन बहुत सुन्दर हुआ है। सदन का चरित्र-चित्रण अन्त में कुछ स्वाभाविक-सा लगता है, क्योंकि मनुष्य अपनी पहली प्रीति को इतना शीघ्र स्त्री-पुत्र के सुख में भूल जाय, यह संभव नहीं दिखता। पिता-माता के प्रति भी उसकी भावनायें कुछ अजीब-सी लगती हैं। वह जैसे एक उखड़ा हुआ बिरवा है जो गाँव की चहारदीवारियों में से उखाड़कर फिर वहाँ पनप नहीं पाता। उसकी समाज-सेवा भी केवल एक आदर्श मार्ग-प्रदर्शन तक सीमित है, शान्ता को ग्रहण कर लेने के बाद जैसे उसका सामाजिक उत्साह पूर्णाहुति पा जाता है और माता-पिता का पुनर्मिलन तो उसे एकदम घरघुसू ही बना डालता है।

शान्ता का चित्रण सदन की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक हुआ है। आरंभ में ही उसकी किशोरावस्था कुचली हुई उमंगों में बीतती है। अपनी मामी से बराबर उसे दुतकार-फटकार मिलती रहती है, जिसके कारण वह बिलकुल अपने में घुटी-घुटी-सी रहने लगती है। किन्तु जब उसकी बारात आकर

लौट जाती है तो वह दुःख में दृढ़ता पा लेती हैं और असीम सहिष्णुता के साथ अपना जीवन निर्वाह करने लगती है। पिता का अन्तिम उपदेश पाकर वह और भी सबल हो जाती है और इतना साहस बटोर पाती है कि वह अपनी मामी से अपने नये विवाह की बातचीत के विरुद्ध अपना दृढ़ संकल्प प्रकट कर देती है। उसमें भारतीय नारी की एकनिष्ठा भरपूर है और साथ ही अपने सतीत्व का मान भी। वह सदनसिंह के प्रेम की प्यासी होने पर भी पहली भेंट में अनुनय के स्तर पर नहीं उतरती, भले ही इस मान का बाद में उसे तीव्र अनुताप होता है। साथ ही वह एकनिष्ठा की दुर्बलता—ईर्ष्या से भी मुक्त नहीं है। वह पति-मिलन के बाद जब अपनी स्त्री-सुलभ दृष्टि से सुमन और सदनसिंह के पूर्व प्रणय-संबन्ध को ताड़ जाती है, तो सुमन को अपनी राह का काँटा ही मानने लगती है और वह उसको अलग करने के सौ-सौ उपाय करने से बाज नहीं आती। उसके पति-प्रेम में यही संकीर्णता उससे सच्ची नारी बनाती है, अन्यथा उसका असाधारण चरित्र मुख्य नायिका से ऊपर उठ जाता।

उपन्यास के अन्य चरित्र उभड़े हुए नहीं हैं। सेठ चिम्मनलाल, सेठ बलभद्रदास, पण्डित दीनानाथ और अब्दुलवफ़ा दम्भी और ढोंगी धार्मिकों के प्रतीक हैं, जो अपने काले पापमय जीवन को धर्म की आड़ में ढँकते रहते हैं। उनका पर्दाफाश करके रख दिया गया है। उमानाथ और जाह्नवी समाज में चलते फिरते व्यवहार-कुशल टाइप के प्रतीक हैं, उनके लिए उपकार करना समाज-प्रतिष्ठा का साधन-मात्र है, वैसे वे बहुत ही संकीर्ण और कंजूस होते हैं। जाह्नवी उमानाथ से भी अधिक संकीर्ण हृदयवाली है, वही शान्ता की बारात लौटाने में कारण बनती है। उमानाथ बहुत ही होशियार आदमी है, जो अपने मान-अपमान को रुपए-पैसे से नापता-जोखता रहता है। डा० श्मामाचरण और लाला भगतराम निष्क्रिय बुद्धिवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो किसी नये सुधार का औचित्य समझकर भी अपने विवेक को बेंचे रहते हैं। कुँअर इन्द्रनारायण प्रबुद्ध अभिजात वर्ग की अलमस्ती और विशाल हृदयता की मूर्ति हैं, जो दूसरों को प्रसन्न करते

हुए भी समाज की कमजोरियों पर चोट करते रहते हैं। कुँवर प्रभाकरराव पत्रकारों की अतिशय उत्साहशीलता के प्रतिबिंब हैं। इन अप्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण में नुकीलापन नहीं है, इनसे बस कहानी की छोटी टेक बनाने का काम ले लिया गया है। शरत्चन्द्र जिस तरह छोटे पात्रों में भी प्राण भर देते हैं, वैसी बात यहाँ नहीं है। बस केवल भामा और मदनसिंह के चित्रण में मोहकता है। मदनसिंह के अभिमान की पौत्र-स्नेह के सामने पराजय बहुत सजीवता के साथ अंकित हुई।

उपन्यास जिस ध्येय को लेकर लिखा गया है, वह कहीं भी धूमिल नहीं होने पाया है, इसमें उपन्यासकार की बहुत बड़ी सफलता माननी चाहिए। "कई युगों से चली आती हुई परम्परा पर नैतिक और भावुकता-पूर्ण दृष्टिकोण से निर्दयतापूर्ण आक्रमण किया गया है।" परन्तु समस्या का जो समाधान उन्होंने दिया है, वह बहुत ही अयथार्थ और पलायनवादी है। शायद इसकी असारता उन्होंने स्वयं समझ ली है। पर साथ ही इतनी सशक्त चोट जो उन्होंने जड़ समाज को दी है, उसी में उनका कृतित्व अभिनिविष्ट है। जिस प्रौढ़ ओजस्विता के साथ उन्होंने समाज की विरल-धारा मोड़ने का यत्न किया है, वह सराहनीय है। उपन्यास शिल्प की दृष्टि से भी बहुत सुगठित और पूर्ण है। असंयत एवं अनावश्यक वाग्वि-लास कहीं-कहीं जरूर है—जो कि प्रस्तुत पाठ्य संस्करण में बिल्कुल काट दिया गया है—पर तब भी उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु अंत तक अविचल है। इस उपन्यास में जीवन के केवल एक सामाजिक पार्श्व को आधार बनाया गया है, और उसके आर्थिक या राजनैतिक पहलू की झाँई-मात्र कहीं-कहीं दे दी गई है। (जैसे चुङ्गी या किसान-आंदोलन का उड़ता हुआ जिक्र करके।) विविध पारिवारिक सम्बंधों से भी उपन्यास विच्छिन्न-सा चलता है। इस उपन्यास में गृहस्थी की वे झाँकियाँ नहीं मिलतीं जो 'ग़बन' में मिलती हैं, इसमें तो केवल गृहस्थी की ट्रेजेडी-भर वर्णित है और इसका आधार-पट भी 'रंगभूमि' की तरह बहुत फैला हुआ नहीं है, परंतु इस उपन्यास में एकोन्मुखता बहुत स्पष्ट मिलेगी जो कि दूसरे उपन्यासों में

उतनी नहीं मिलेगी। उपन्यास का आदर्शवाद भी भावुकतापूर्ण होने के कारण अबुद्धिसंगत चाहे कहा जाय, पर उसकी सचाई और गहराई पर कोई उँगली नहीं उठा सकता। तत्कालीन भारतीय सुधार परम्परा में वही आदर्शवाद कल्पना में आ सकता था। इसलिए उपन्यास की सफलता इस अबौद्धिक आदर्शवाद के कारण जरा भी प्रतिहित नहीं होती, उसका मूल तो निहित है समाज के लिए नयी विचारभूति तैयार करने में। प्रेम-चन्द ने आदर्श की आराधना सदैव यथार्थ को अभिवांछनीय बनाने के लिए की, कोरी आदर्शवादिता के पीछे वे कहीं नहीं भटकते।

उपन्यास की भाषा प्रारम्भिक रचना होने के कारण अभिव्यक्ति की सघनता और मार्मिकता में पूरी नहीं उतरती है, पर सरल प्रवाह और विषयानुरूप्य उसमें यथेष्ट है। अलंकारों का प्रयोग प्रायः बहुत शिथिल और अपरिष्कृत है जैसे "उसके हृदय में चन्द्ररूपी सुविचार ने विकासरूपी तारा-गण को ज्योतिहीन कर दिया"; यहाँ 'चन्द्र' न कहकर 'चन्द्रिका' कहना अधिक उपयुक्त होगा। उर्दू की भी कहीं-कहीं अनावश्यक छटा दिखलाई गई है। प्रायः कथोपकथनों को भी अनावश्वक विस्तार दिया गया है और उनमें संयत एवं सूक्ष्म कला की परिस्फुटता और व्यंगमयता का अभाव है, पर शक्ति बहुत है। भाषा-पक्ष की ये कमियाँ बिलकुल ही भूल जाती हैं जब हम यह सोचते हैं कि 'सेवासदन' प्रेमचन्द की हिन्दी में पहली कृति है। उस दृष्टि से तो उपन्यास बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल है।

संक्षेप में 'सेवासदन' इनी-गिनी युगान्तरकारी महान् कलाकृतियों में से है जो समय-समय पर नये युग को जागृति, महान् संकल्प और जीवन की नयी प्रेरणा देती हैं।

विद्यानिवास मिश्र

१

पश्चात्ताप के कड़ुवे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे। उन्हें थानेदारी करते हुए पचीस वर्ष हो गये लेकिन उन्होंने अपनी नीयत को कभी बिगड़ने न दिया था। यौवनकाल में भी, जब चित्त भोग-विलास के लिए व्याकुल रहता है उन्होंने निःस्पृह भाव से अपना कर्त्तव्य-पालन किया था। लेकिन इतने दिनों के बाद आज वह अपनी सरलता और विवेक पर हाथ मल रहे थे। उनकी पत्नी गंगाजली सती-साध्वी स्त्री थी। उसने सदैव अपने पति को कुमार्ग से बचाया था। पर इस समय वह भी चिन्ता में डूबी हुई थी।

दारोगा कृष्णचन्द्र रसिक, उदार और बड़े सज्जन मनुष्य थे। मातहतों के साथ वह भाई-चारे का-सा व्यवहार करते थे; किन्तु मातहतों की दृष्टि में उनके इस व्यवहार का कुछ मूल्य न था। वह कहा करते थे कि यहाँ हमारा पेट नहीं भरता, हम इनकी भलमनसी को लेकर क्या करें—चाटें?

दारोगाजी के अफसर भी उनसे प्रायः प्रसन्न न रहते। वह दूसरे थाने में जाते तो उनका बड़ा आदर-सत्कार होता था, उनके अहलमद, मुहर्रिर और अरदली खूब दावतें उड़ाते। अहलमद को नजराना मिलता, अरदली इनाम पाता और अफसरों को नित्य डालियाँ मिलतीं, पर कृष्णचन्द्र न दावतें करते थे, न डालियाँ ही लगाते थे। जो किसी से लेता नहीं, वह किसी को देगा कहाँ से?

लेकिन इतने निर्लोभ होने पर भी दारोगाजी के स्वभाव में किफायत का नाम न था। वह स्वयं तो शौकीन न थे, लेकिन अपने घरवालों को आराम देना अपना कर्त्तव्य समझते थे। घर में तीन प्राणी और थे, स्त्री और दो लड़कियाँ। दारोगाजी इन लड़कियों को प्राण से भी अधिक प्यार करते थे। उनके लिए अच्छे-से-अच्छे कपड़े लाते और शहर से नित्य तरह-तरह की चीजें मँगाया करते। घर में सामान जमा करने की उन्हें

धुन थी। सारा मकान कुर्सियों, मेजों और आल्मारियों से भरा हुआ था। लड़कियों को पढ़ाने और सीना-पीरोना सिखाने के लिए उन्होंने एक ईसाई लेडी रख ली थी।

गंगाजली चतुर स्त्री थी। उन्हें समझाया करती कि जरा हाथ रोक कर खर्च करो। जीवन में यदि और कुछ नहीं करना है तो लड़कियों का विवाह तो करना ही पड़ेगा। उस समय किसके सामने हाथ फैलाते फिरोगे? अभी तो उन्हें मखमली जूतियाँ पहनाते हो, कुछ इसकी भी चिंता है कि आगे क्या होगा? दारोगाजी इन बातों को हँसी में उड़ा देते, कहते, जैसे और सब काम चलते हैं वैसे ही यह काम भी हो जायगा। कभी झुँझलाकर कहते, ऐसी बात करके मेरे ऊपर चिन्ता का बोझ मत डालो। इस प्रकार दिन बीतते चले जाते थे। दोनों लड़कियाँ कमल के समान खिलती जाती थीं। बड़ी लड़की सुमन सुन्दर, चञ्चल और अभिमानिनी थी। छोटी लड़की शान्ता भोली, गम्भीर, सुशील थी। सुमन दूसरों से बढ़कर रहना चाहती थी। यदि बाजार से दोनों बहनों के लिए एक ही प्रकार की साड़ियाँ आतीं तो सुमन मुँह फुला लेती थी। शान्ता को जो कुछ मिल जाता उसी में प्रसन्न रहती।

गंगाजली पुराने विचार के अनुसार लड़कियों के ऋण से शीघ्र मुक्त होना चाहती थी। पर, दारोगाजी कहते, यह अभी विवाह योग्य नहीं है। शास्त्रों में लिखा है कि कन्या का विवाह सोलह वर्ष की आयु से पहले करना पाप है। समाचार-पत्रों में जब वह दहेज के विरोध में बड़े-बड़े लेख पढ़ते तो बहुत प्रसन्न होते। गंगाजली से कहते कि अब एक ही दो साल में यह कुरीति मिटी जाती है। चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। यहाँ तक कि इसी तरह सुमन का सोलहवाँ वर्ष लग गया।

अब कृष्णचन्द्र अपने को अधिक धोखा न दे सके। उनकी पूर्व निश्चिन्तता वैसी न थी जो अपनी सामर्थ्य के ज्ञान से उत्पन्न होती है। उसका मूल कारण उनकी अकर्मण्यता थी—उस पथिक की भाँति जो दिन-भर किसी वृक्ष के नीचे आराम से सोने के बाद सन्ध्या को उठे और सामने

एक ऊँचा पहाड़ देखकर हिम्मत हार बैठे। दरोगाजी घबरा गये। वर की खोज में दौड़ने लगे। वह शिक्षित परिवार चाहते थे। वह समझते थे कि ऐसे घरों में लेन-देन की चर्चा न होगी, पर उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वरों का मोल उनकी शिक्षा के अनुसार है। कोई चार हजार सुनाता, कोई पाँच हजार और कोई इससे भी आगे बढ़ जाता। बेचारे निराश होकर लौट आते। आज छः महीने से दारोगाजी इसी चिन्ता में पड़े हैं। बुद्धि काम नहीं करती। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षित सज्जनों को उनसे सहानुभूति थी; पर वह एक-न-एक ऐसी पख निकाल देते थे कि दारोगाजी को निरुत्तर हो जाना पड़ता। एक सज्जन ने कहा, महाशय, मैं स्वयं इस कुप्रथा का जानी दुश्मन हूँ लेकिन करूँ क्या, अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया, दो हजार रुपये केवल दहेज में देने पड़े, दो हजार और खाने-पीने में खर्च पड़े, आप ही कहिये, वह कमी कैसे पूरी हो!

दूसरे महाशय इनसे अधिक नीतिकुशल थे। बोले, दारोगाजी, मैंने लड़के को पाला है, सहस्रों रुपये उसकी पढ़ाई में खर्च किये हैं। आपकी लड़की को इससे उतना ही लाभ होगा जितना मेरे लड़के को। तो आप ही न्याय कीजिये कि यह सारा भार मैं अकेला कैसे उठा सकता हूँ!

कृष्णचन्द्र को अपनी ईमानदारी और सचाई पर पश्चात्ताप होने लगा। अपनी निःस्पृहता पर उन्हें जो घमण्ड था वह टूट गया। वह सोच रहे थे कि यदि मैं पाप से न डरता तो आज मुझे यों ठोकरें न खानी पड़तीं। इस समय दोनों स्त्री-पुरुष चिन्ता में डूबे बैठे थे, बड़ी देर के बाद कृष्णचन्द्र बोले, देख लिया, संसार में सन्मार्ग पर चलने का यह फल होता है। यदि आज मैंने लोगों को लूटकर अपना घर भर लिया होता तो लोग मुझसे सम्बन्ध करना अपना सौभाग्य समझते। अब दो ही उपाय हैं, या तो सुमन को किसी कंगाल के पल्ले बाँध दूँ या कोई सोने की चिड़िया फँसाऊँ। पहली बात तो होने से रही; बस अब सोने की चिड़िया की खोज में निकलता हूँ। धर्म का मजा चख लिया, सुनीति का हाल भी देख चुका। अब लोगों के ख़ूब गले दबाऊँगा, ख़ूब रिश्वतें लूँगा, यही अन्तिम उपाय है।

संसार यही चाहता है, और कदाचित् ईश्वर भी यही चाहता है। यही सही।

गंगाजली सिर झुकाये अपने पति की ये बातें सुनकर दुःखित हो रही थी। वह चुप थी, आँखों में आँसू भरे हुए थे।

२

दारोगाजी के हल्के में एक महन्त रामदास रहते थे। वह साधुओं की एक गद्दी के महन्त थे। उनके यहाँ सारा कारोबार 'श्रीबाँकेबिहारीजी' के नाम पर होता था। 'श्रीबाँकेबिहारीजी' लेन-देन करते थे और [illegible]२) सैकड़े से कम सूद न लेते थे। वही मालगुज़ारी वसूल करते थे, वही रेहन-नामे-बैनामे लिखाते थे। 'श्रीबाँकेबिहारीजी' की रकम दबाने का किसी को साहस न होता और न अपनी रक़म के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे कड़ाई कर सकता था। 'श्रीबाँकेबिहारीजी' को रुष्ट करके उस इलाके में रहना कठिन था। महन्त रामदास के यहाँ दस-बीस मोटे-ताजे साधू स्थायी रूप से रहते थे। वह अखाड़े में दण्ड पेलते, भैंस का ताजा दूध पीते, सन्ध्या को दूधिया भंग छानते और गाँजे-चरस की चिलम तो कभी ठण्डी न होने पाती थी। ऐसे बलवान जत्थे के विरुद्ध कौन सिर उठाता!

महन्तजी का अधिकारियों में खूब मान था। 'श्रीबाँकेबिहारीजी' उन्हें खूब मोतीचूर के लड्डू और मोहनभोग खिलाते थे। उनके प्रसाद से कौन इनकार कर सकता था? ठाकुरजी संसार में आकर संसार की रीति पर चलते थे।

इस साल महन्तजी तीर्थयात्रा करने गये थे। वहाँ से आकर उन्होंने एक बड़ा यज्ञ किया था। एक महीने तक हवनकुंड जलता रहा, महीनों तक कड़ाह न उतरे, पूरे दस हजार महात्माओं का निमन्त्रण था। इस यज्ञ के लिए इलाके के प्रत्येक आसामी से हल पीछे पाँच रुपया चन्दा उगाहा गया था; किसी ने खुशी से दिया, किसी ने उधार लेकर और जिसके पास न था उसे रुक्का ही लिखना पड़ा। यदि ठाकुरजी को हार माननी पड़ी तो केवल एक अहीर से जिसका नाम चेतू था। वह बड़ा दरिद्र आदमी था। कई साल से उसकी फसल खराब हो रही थी। थोड़े ही दिन हुए 'श्री

बाँकेबिहारीजी' ने उस पर इजाफा लगान की नालिश करके उसे ऋण के बोझ से और भी दबा दिया था। उसने यह चन्दा देने से इनकार किया; यहाँ तक रुक्का न भी लिखा। ठाकुर जी ऐसे द्रोही को भला कैसे क्षमा करते? एक दिन कई महात्मा चेतू को पकड़ लाये। ठाकुरद्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी। चेतू भी बिगड़ा। हाथ तो बँधे हुए थे, मुँह से लात घूँसों का जवाब देता रहा और जब तक जबान बन्द न हो गई, चुप न हुआ। इतना कष्ट देकर भी ठाकुरजी को सन्तोष न हुआ। उसी रात को उसके प्राण भी हर लिये। प्रातःकाल चौकीदार ने थाने में रिपोर्ट की।

दारोगा कृष्णचन्द्र को मालूम हुआ, मानो ईश्वर ने बैठे-बैठाये सोने की चिड़िया भेज दी। तहकीकात करने चले।

लेकिन महन्तजी की उस इलाके में ऐसी धाक जमी हुई थी कि दारोगा को कोई गवाही न मिल सकी। लोग एकान्त में आकर उनसे सारा वृत्तान्त कह जाते थे, पर कोई अपना बयान न देता था।

महन्तजी पहले तो अकड़े रहे। लेकिन जब उन्हें पता चला कि दारोगाजी ने कई आदमियों को फोड़ लिया है तो कुछ नरम पड़े। अपने मुख्तार को दारोगाजी के पास भेजा। कुबेर की शरण ली। लेन-देन की बातचीत होने लगी। कृष्णचन्द्र ने कहा, मेरा हाल तो आप लोग जानते हैं कि रिश्वत को काला नाग समझता हूँ। मुख्तार ने कहा, हाँ, यह तो मालूम है, किन्तु साधु-सन्तों पर कृपा रखनी ही चाहिए। इसके बाद दोनों सज्जनों में कानाफूसी हुई। मुख्तार ने कहा, नहीं सरकार, पाँच हजार बहुत होते है। ऐसा कीजिए कि उनका कष्ट न हो और आपका भी काम निकल जाय। अन्त में तीन हजार पर बात पक्की हो गई।

जन्म भर निर्लोभ रहने के बाद इस समय अपनी आत्मा का बलिदान करने में दारोगाजी को बड़ा दुःख होता था। वह सोचते थे, यदि यही करना था तो आज से पचीस साल पहले ही क्या न किया, अब तक सोने की दीवार खड़ी कर दी होती। इलाके ले लिये होते। इतने दिनों तक त्याग का आनन्द उठाने के बाद बुढ़ापे में यह कलंक! पर मन कहता

था, इसमें तुम्हारा क्या अपराध ? तुमसे जब तक निभ सका, निबाहा। भोगविलास के पीछे अधर्म नहीं किया; लेकिन जब देश, काल, प्रथा और अपने बन्धुओं का लोभ तुम्हें कुमार्ग की ओर ले जा रहे हैं तो तुम्हारा क्या दोष ? तुम्हारी आत्मा अब भी पवित्र है। तुम ईश्वर के सामने अब भी निरपराध हो। इस प्रकार तर्क करके दारोगाजी ने अपनी आत्मा को समझा लिया।

लेकिन परिणाम का भय किसी तरह पीछा न छोड़ता था। उन्होंने कभी रिश्वत नहीं ली थी। हिम्मत न खुली थी। जिसने कभी किसी पर हाथ न उठाया हो, वह सहसा तलवार का वार नहीं कर सकता। यदि कहीं बात खुल गई तो जेलखाने के सिवा और कहीं ठिकाना नहीं; सारी नेकनामी धूल में मिल जायगी। आत्मा तर्क से परास्त हो सकती है, पर परिणाम का भय तर्क से दूर नहीं होता। वह पर्दा चाहता है। दारोगाजी ने यथासम्भव इस मामले को गुप्त रक्खा। मुख्तार ने ताकीद कर दी कि इस बात की भनक भी किसी के कान में न पड़ने पावे। थाने के कान्स-टेबिलों और अमलों से भी सारी बातें गुप्त रखी गईं।

रात के नौ बजे थे। दारोगाजी ने अपने तीनों कान्सटेबिलों को किसी बहाने से थाने के बाहर भेज दिया था। चौकीदारों को भी रसद का सामान जुटाने के लिए इधर-उधर भेज दिया था और आप अकेले मुख्तार की राह देख रहे थे।

कोई आध घण्टे के बाद मुख्तार के आने की आहट मिली। उनकी छाती धड़कने लगी। चारपाई से उठ बैठे, फिर पानदान खोलकर पान लगाने लगे कि इतने में मुख्तार भीतर आया।

कृष्णचन्द्र—कहिए ?

मुख्तार—महन्तजी ने....

कृष्णचन्द्र ने दरवाजे की तरफ देखकर कहा, रुपये लाये या नहीं ?

मुख्तार—जी हाँ, लाया हूँ, पर महन्तजी....

कृष्णचन्द्र ने फिर चारों तरफ चौकन्नी आँखों से देखकर कहा—मैं

एक कौड़ी भी कम न करूँगा।

मुख्तार—अच्छा मेरा हक तो दीजिएगा?

कृष्णचन्द्र—अपना हक महन्तजी से लेना।

मुख्तार—पाँच रुपया सैकड़े तो हमारा बँधा हुआ है।

कृष्णचन्द्र—इसमें से एक कौड़ी भी न मिलेगी। मैं अपनी आत्मा बेंच रहा हूँ, कुछ लूट नहीं रहा हूँ।

मुख्तार—आपकी जैसी मरजी, पर मेरा हक मारा जाता है।

कृष्णचन्द्र—मेरे साथ घर तक चलना पड़ेगा।

तुरन्त बहली तैयार हुई और दोनों आदमी उस पर बैठकर चले। बहली के आगे-पीछे चौकीदारों का दल था। कृष्णचन्द्र उड़कर घर पहुँचना चाहते थे। गाड़ीवान को बार-बार तेज़ हाँकने के लिए कहते अरे क्या सो रहा है? हाँके चल।

ग्यारह बजते-बजते लोग घर पहुँचे। दारोगाजी मुख्तार को लिये हुए अपने में कमरे गये और किवाड़ बन्द कर दिये। मुख्तार ने थैल निकाली। कृष्णचन्द्र ने झट थैली ले ली और बिना देखे-सुने उसे अपने सन्दूक में डाल कर ताला लगा दिया।

गंगाजली अभी तक उनकी राह देख रही थी। कृष्णचन्द्र मुख्ता को बिदा करके घर में गये। गंगाजली ने पूछा, इतनी देर क्यां का?

कृष्णचन्द्र—काम ही ऐसा आ पड़ा और दूर भी बहुत है।

भोजन करके दारोगाजी लेटे, पर नींद न आती थी। स्त्री से रुपये की बात कहते उन्हें सकोच हो रहा था। गंगाजली को भी नींद न आती थी। वह बार-बार पति के मुँह की ओर देखती, मानों पूछ रही थी कि बचे या डूबे!

अन्त में कृष्णचन्द्र बोले—यदि तुम नदी किनारे खड़ी हो और पीछे से एक शेर तुम्हारे ऊपर झपटे तो क्या करोगी?

गगाजली इस प्रश्न का अभिप्राय समझ गयी। बोली, नदी में चली जाऊँगी।

कृष्ण—चाहे डूब ही जाओ?

गंगा—हाँ डूब जाना शेर के मुँह पड़ने से अच्छा है।

कृष्ण—इसका मतलब तुम्हारी समझ में आया?

गंगाजली ने दीनभाव से पति की ओर देखकर कहा, तब क्या ऐसी बेसमझ हूँ!

कृष्ण—मैं कूद पड़ा हूँ। बचूँगा या डूब जाऊँगा, यह मालूम नहीं।

३

पण्डित कृष्णचन्द्र रिश्वत लेकर उसे छिपाने के साधन न जानते थे। इस विषय में अभी नौसिखिए थे। उन्हें मालूम न था कि हराम का माल अकेले मुश्किल से पचता है। मुख्तार ने अपने मन में कहा, हमीं ने सब कुछ किया और हमीं से यह चाल! मैंने जो इतनी दौड़-धूप की, वह कुछ आशा ही रखकर की थी।

वह दारोगाजी के पास से उठकर सीधे थाने में आया और बातों ही बातों में सारा भण्डाफोड़ हो गया।

थाने के अमलों ने कहा, वाह हमसे छिपा-छिपाकर यह रकम उड़ाई जाती है। यदि इस बगुला भक्त को मजा न चखा दिया तो देखना।

कृष्णचन्द्र तो विवाह की तैयारियों में मग्न थे। वर सुन्दर, सुशील, सुशिक्षित था। कुल ऊँचा और धनी। दोनों ओर से लिखा पढ़ी हो रही थी। उधर हाकिमों के पास गुप्त चिट्ठियाँ पहुँच रही थीं। उनमें आक्षेपों के ऐसे सबल प्रमाण दिये गए थे, व्यवस्था की ऐसी उत्तम विवेचना की गई थी कि हाकिमों के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया। उन्होंने गुप्त रीति से तहकीकात की। सारा रहस्य खुल गया।

एक महीना बीत चुका था। कल तिलक जाने की साइत थी। दारोगाजी सन्ध्या समय थाने में मसनद लगाये बैठे थे, उस समय सामने से सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस आता हुआ दिखाई दिया। उसके पीछे दो थानेदार और कई कान्सटेबिल चले आ रहे थे। कृष्णचन्द्र उन्हें देखते ही घबराकर उठे कि एक थानेदार ने बढ़कर उन्हें गिरफ्तारी का वारण्ट दिखाया। कृष्णचन्द्र का मुख पीला पड़ गया। वह जड़ मूर्ति की भाँति चुपचाप खड़े हो

गए और सिर झुका लिया। उनके चेहरे पर भय न था, लज्जा थी। यह वही दोनों थानेदार थे, जिनके सामने वह अभिमान से सिर उठाकर चलते थे, जिन्हें वह नीच समझते थे। पर आज वह उन्हीं के सामने सिर नीचा किये खड़े थे। जन्म भर की नेकनामी एक क्षण में धूल में मिल गयी। थाने के अमलों ने मन में कहा, और अकेले-अकेले रिश्वत उड़ाओ!

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कहा, वेल किशनचन्द्र, तुम अपने बारे में कुछ कहना चाहता है?

कृष्णचन्द्र ने सोचा—क्या कहूँ? क्या कह दूँ कि मैं बिलकुल निरपराध हूँ, यह सब मेरे शत्रुओं की शरारत है; थानेवालों ने मेरी ईमानदारी से तंग आकर मुझे यहाँ से निकालने की चाल खेली है।

पर वह पापाभिनय में ऐसे सिद्धहस्त न थे। उनकी आत्मा स्वयं अपने अपराध के बोझ से दबी जा रही थी। वह अपनी दृष्टि से गिर गए थे।

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने फिर पूछा, तुम अपने बारे में कुछ कहना चाहता है?

कृष्णचन्द्र बोले, जी हाँ, मैं यही कहना चाहता हूँ कि मैंने अपराध किया है और उसका कठोर-से-कठोर दंड मुझे दिया जाय। मेरा मुँह काला करके मुझे सारे कस्बों में घुमाया जाय। झूठी मर्यादा बढ़ाने के लिए, अपनी हैसियत को बढ़ाकर दिखाने के लिए, अपनी बड़ाई के लिए मैंने एक अनुचित कर्म किया है और अब उसका दण्ड चाहता हूँ। आत्मा और धर्म का बंधन मुझे न रोक सका। इसलिए मैं कानून की बेड़ियों के ही योग्य हूँ। मुझे एक क्षण के लिए घर में जाने की आज्ञा दीजिये। वहाँ से आकर मैं आपके साथ चलने को तैयार हूँ।

दोनों थानेदार ये बातें सुनकर एक दूसरे का मुँह देख रहे थे, मानों कह रहे थे कि यह आदमी पागल हो गया है क्या? अपने होश में नहीं मालूम होता। यदि ईमानदार ही बनना था तो ऐसा काम ही क्यों किया?

सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कृष्णचन्द्र को दया की दृष्टि से देखा और भीतर जाने की आज्ञा दी।

गंगाजली बैठी चाँदी के थाल में तिलक की सामग्री सजा रही थी कि

कृष्णचन्द्र ने आकर कहा, गंगा, बात खुल गयी। मैं हिरासत में आ गया।

गंगाजली ने उनकी ओर विस्मित भाव से देखा। उसके चेहरे का रंग उड़ गया। आँखों से आँसू बहने लगे।

कृष्णचन्द्र—रोती क्यों हो ? मेरे साथ कोई अन्याय नहीं हो रहा है। मैंने जो कुछ किया है उसी का फल भोग रहा हूँ। मुझपर फौजदारी का मुकदमा चलाया जायगा, तुम कुछ चिन्ता मत करना। मैं सब कुछ सहन करने के लिए तैयार हूँ, मेरे लिए वकील मुख्तारों की जरूरत नहीं है। इसमें व्यर्थ रुपये मत फूँकना। उसे तुम सुमन के विवाह में खर्च करना। अपनी आत्मा का, अपनी नेकनीयती का, अपने जीवन का सर्वनाश करने के बाद मुझे सन्तोष रहेगा कि मैं एक ऋण से मुक्त हो गया। इस लड़की का बेड़ा पार लगा दिया।

गंगाजली ने दोनों हाथों से अपना सिर पीट लिया। हाय ! यदि मैं जानती कि यह नौबत आयेगी तो अपनी लड़की किसी कंगाल से ब्याह देती, या उसे विष देकर मार डालती। फिर वह झटपट उठी, मानों नींद से चौंकी है और कृष्णचन्द्र का हाथ पकड़कर बोली—इन रुपयों में आग लगा दो। उन्हें ले जाकर उसी हत्यारे रामदास के सिर पर पटक दो। मेरी लड़की बिना ब्याही रहेगी। हाय ईश्वर ! मेरी मति क्यों मारी गई। मैं साहब के पास चलती हूँ। अब लाज शरम कैसी ?

कृष्ण—जो कुछ होना था, हो चुका, अब कुछ नहीं हो सकता।

गंगा—मुझे साहब के पास ले चलो। मैं उनके पैरों पर गिरूँगी और कहूँगी, यह आपके रुपये हैं, लीजिये और जो कुछ दण्ड देना है, मुझे दीजिए। मैं ही विष की गाँठ हूँ। यह पाप मैंने बोया है।

कृष्ण—सुनो, यह रोने-धोने का समय नहीं है। मैं कानून के पंजे में फँसा हूँ और किसी तरह बच नहीं सकता। धैर्य से काम लो। परमात्मा की इच्छा होगी तो फिर भेंट होगी।

यह कहकर वह बाहर की ओर चले कि दोनों लड़कियाँ आकर उनके

पैरों से चिमट गयीं। गंगाजली ने दोनों हाथों से उनकी कमर पकड़ ली और तीनों चिल्लाकर रोने लगीं।

कृष्णचन्द्र भी कातर हो गये। उन्होंने सोचा, इन अबलाओं की क्या गति होगा ? परमात्मन्, तुम दीनों के रक्षक हो, इनकी भी रक्षा करना।

एक क्षण में वह अपने को छुड़ाकर बाहर चले गए।

(४)

कृष्णन्द्र अपने कस्बे में सर्वप्रिय थे। यह खबर फैलते ही सारी बस्ती में हलचल मच गई। कई भले आदमी उनकी जमानत कराने आये, लेकिन साहब ने जमानत न ली।

इसके एक सप्ताह बाद कृष्णचन्द्र पर रिश्वत लेने का अभियोग चलाया गया। महन्त रामदास भी गिरफ्तार हुए।

दोनों मुकदमे महीने भर तक चलते रहे। हाकिम ने उन्हें दौरा सुपुर्द कर दिया।

वहाँ भी एक महीना लगा। अन्त में कृष्णचन्द्र को पाँच वर्ष की कैद हुई। महन्तजी सात वर्ष के लिए गये और दोनों चेलों को कालेपानी का दण्ड मिला।

गंगाजली के एक सगे भाई पण्डित उमानाथ थे। कृष्णचन्द्र की उनसे जरा भी न बनती थी। इसलिए उमानाथ उनके यहाँ बहुत कम आते थे।

लेकिन उस दुर्घटना का समाचार पाकर उमानाथ से न रहा गया। वह आकर अपनी बहन और भाजियों को अपने घर ले गये। कृष्णचन्द्र के कोई सगा भाई न था। चाचा के दो लड़के थे, पर वह अलग रहते थे। उन्होंने बात तक न पूछी।

कृष्णचन्द्र ने चलते-चलते गंगाजली को मना किया था कि रामदास के रुपयों में से एक कौड़ी भी मुकदमे में न खर्च करना। लेकिन गंगाजली का जी न माना। उसने दिल खोलकर रुपये खर्च किए। वकील लोग अन्त समय तक यही कहते रहे कि वे छूट जायँगे।

जज के फैसले की हाईकोर्ट में अपील हुई। महन्तजी के सजा में कमी

न हुई। पर कृष्णचन्द्रजी की सजा घट गई। पाँच के चार वर्ष रह गए।

गंगाजली आने को तो मैके आई, पर अपनी भूल पर पछताया करती थी। यह वह मैका न था जहाँ उसने अपने बालकपन की गुड़ियाँ खेली थीं, मिट्टी के घरौंदे बनाये थे, माता-पिता की गोद में पली थी। माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था, गाँव में वह आदमी न दिखाई देते थे। यहाँ तक कि पेड़ों की जगह खेत और खेतों की जगह पेड़ लगे हुए थे। उसकी भावज जाह्नवी उससे मुँह फुलाये रहती। जाह्नवी अब अपने घर बहुत कम रहती। पड़ोसियों के यहाँ बैठी हुई गंगाजली का दुखड़ा रोया करती। उसके दो लड़कियाँ थीं। वह भी सुमन और शान्ता से दूर-दूर रहतीं।

गंगाजली के पास रामदास के रुपयों में से कुछ न बचा था। यही चार-पाँच सौ रुपये रह गये थे जो उसने पहले काट-कपटकर जमा किए थे इसलिए वह उमानाथ से सुमन के विवाह के विषय में कुछ न कहती। यहाँ तक कि छः महीने बीत गये, कृष्णचन्द्र ने जहाँ पहले सम्बन्ध ठीक किया था, वहाँ से साफ जवाब आ चुका था।

लेकिन उमानाथ को यह चिन्ता बराबर लगी रहती थी। उन्हें जब अवकाश मिलता तो दो-चार दिन के लिए वर की खोज में निकल जाते। ज्योंही वह किसी गाँव में पहुँचते वहाँ हलचल मच जाता। युवक गठरियों से वह कपड़े निकालते जिन्हें वह बारात में पहना करते थे। अँगूठियाँ और मोहनमाले मँगनी माँगकर पहन लेते। माताएँ अपने बालकों को नहला-धुलाकर आँखों में काजल लगा देतीं और धुले हुए कपड़े पहनाकर खेलने को भेजतीं। विवाह के इच्छुक बूढ़े नाइयों से मोंछ कटवाते और पके हुए बाल चुनवाने लगते। गाँव के नाई और कहार खेतों से बुला लिए जाते; कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छँटवाता। जब तक उमानाथ वहाँ रहते, स्त्रियाँ घरों से न निकलतीं, कोई अपने हाथ से पानी न भरता, कोई खेत में न जाता। पर उमानाथ की आँखों में यह घर न जँचते थे।

अन्त में उमानाथ ने निश्चय किया कि शहर में कोई वर ढूँढ़ना

चाहिए। सुमन के योग्य वर देहात में नहीं मिल सकता। पर शहरवालों की लंबी-चौड़ी बातें सुनी तो उनके होश उड़ गये। बड़े आदमियों का तो कहना ही क्या, दफ्तरों के मुसद्दी और क्लर्क भी हजारों का राग अलापते थे। दो-चार सज्जन उनकी कुल-मर्यादा का हाल सुनकर विवाह करने को उत्सुक हुए, पर कहीं तो कुण्डली न मिली और कहीं उमानाथ का मन ही न भरा। वह अपनी कुल-मर्यादा से नीचे न उतरना चाहते थे।

इस प्रकार पूरा एक साल बीत गया।

माघ का महीना था। उमानाथ स्नान करने गये। घर लौटे तो सीधे गंगाजली के पास जाकर बोले, लो बहिन, मनोरथ पूरा हो गया। बनारस में विवाह ठीक हो गया।

गंगा—भला, किसी तरह तुम्हारी दौड़-धूप तो ठिकाने लगी। लड़का पढ़ता है न ?

उमानाथ—पढ़ता नहीं, नौकर है। एक कारखाने मे १५) का बाबू है।

गंगा—घर-द्वार है न ?

उमा—शहर में किसके घर होता है। सब किराये के घर में रहते हैं।

गंगा—भाई-बन्द मा-बाप हैं ?

उमा—मा-बाप मर चुके हैं और भाई-बन्द शहर में किसके होते हैं!

गंगा—उमर क्या है ?

उमा—यही, कोई तीस साल के लगभग होगी।

गंगा—देखने-सुनने में कैसा है ?

उमा—सौ में एक। नाम गजाधरप्रसाद है।

गंगा—तो दुआह होगा।

उमा—हाँ, है तो दुआह, पर इससे क्या ?

गंगा—कुल कैसा है ?

उमा—बहुत ऊँचा। हमसे भी दो बिस्वे बड़ा है। पसन्द है न ?

गंगाजली ने उदासीन भाव से कहा, जब तुम्हें पसन्द है तो मुझे भी पसन्द है।

५

फागुन में सुमन का विवाह हो गया। गंगाजली दामाद को देखकर बहुत रोई। उसे ऐसा दुःख हुआ, मानो किसी ने सुमन को कुएँ में डाल दिया।

सुमन ससुराल आई तो यहाँ की अवस्था उससे भी बुरी पाई जिसकी उसने कल्पना की थी। मकान में केवल दो कोठरियाँ थीं और एक सायबान। बाहर से नालियों की दुर्गन्ध आती रहती थी, धूप और प्रकाश का कहीं गुजर नहीं।

सुमन के दो महीने आराम से कटे। गजाधर की एक बूढ़ी फुआ घर का सारा काम-काज करती थी। लेकिन गर्मियों में शहर में हैज़ा फैला और बुढ़िया चल बसी। अब वह बड़े फेर में पड़ा। चौका-बरतन करने के लिए महरियाँ ३) रुपये से कम पर राजी न होती थीं। दो दिन घर में चूल्हा नहीं जला। गजाधर सुमन से कुछ न कह सकता था। दोनों दिन बाजार से पूरियाँ लाया, वह सुमन को प्रसन्न रखना चाहता था। उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गया था। तीसरे दिन वह घड़ी रात रहे उठा और सारे बरतन माँज डाले, चौका लगा दिया। कल से पानी भर लाया। सुमन जब उठी तो यह कौतुक देखकर दंग रह गई। समझ गई कि इन्होंने सारा काम किया है। लज्जा के मारे उसने कुछ न पूछा। सन्ध्या को उसने आप ही सारा काम किया। बरतन माँजती थी और रोती जाती थी।

पर थोड़े ही दिनों में उसे इन कामों की आदत पड़ गई। उसे अपने जीवन में आनन्द-सा अनुभव होने लगा। गजाधर को ऐसा मालूम होता था मानों जग जीत लिया है। अपने मित्रों से सुमन की प्रशंसा करता फिरता। दूसरे महीने में उसने वेतन पाया तो सब-का-सब सुमन के हाथों में रख दिया। सुमन को आज स्वच्छन्दता का आनन्द प्राप्त हुआ। अब उसे एक-एक पैसे के लिए किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़ेगा। वह इन रुपयों को चाहे जैसे खर्च कर सकती है।

पर गृह-प्रबन्ध में कुशल न होने के कारण वह आवश्यक और अना-

वश्यक खर्च का ज्ञान न रखती थी। परिणाम हुआ कि महीने में दस दिन बाकी थे और सुमन ने सब रुपए खर्च कर डाले थे। गजाधर ने यह सुना तो उसके सिर पर एक पहाड़ सा टूट पड़ा। इसकी शंका उसे कुछ पहले ही हो रही थी। सुमन से तो कुछ न बोला, पर सारे दिन उस पर चिन्ता सवार रही, अब बीच में रुपए कहाँ से आयें?

गजाधर ने सुमन को घर की स्वामिनी बना तो दिया था, पर वह स्वभाव से कृपण था। जलपान की जलेबियाँ उसे विष के समान लगती थीं। दाल में घी देखकर उसके हृदय में शूल होने लगता। वह भोजन करता तो बटुली की ओर देखता कि कहीं अधिक तो नहीं बना है। दरवाजे पर दाल-चावल फेंका देखकर उसके शरीर में ज्वाला-सी लग जाती थी, पर सुमन की मोहिनी सूरत ने उसे वशीभूत कर लिया था। मुँह से कुछ न कह सकता।

पर आज जब कई आदमियों से उधार माँगने पर उसे रुपए न मिले तो वह अधीर हो गया। घर में आकर बोला, रुपए तो तुमने सब खर्च कर दिये, अब बताओ कहाँ से आयें।

सुमन—मैंने कुछ उड़ा तो नहीं दिये।

बातों-बातों में झगड़ा हो गया। गजाधर ने कुछ कठोर बातें कहीं। अन्त में सुमन ने अपनी हँसुली गिरवी रखने को दी और गजाधर भुन-भुनाता हुआ लेकर चला गया।

लेकिन सुमन का जीवन सुख में कटा था। उसे अच्छा खाने, अच्छा पहनने की आदत थी। अपने द्वार पर खोमचेवालों की आवाज सुनकर उससे न रहा जाता। अब तक वह गजाधर को भी खिलाती थी। अब से अकेले ही खा जाती।

धीरे-धीरे सुमन के सौन्दर्य की चर्चा मुहल्ले में फैली। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ आने लगीं। सुमन उन्हें नीच दृष्टि से देखती। पर उसके रीति-व्यवहार में वह गुण था जो ऊँचे कुलों में स्वाभाविक होता है। पड़ोसिनों ने शीघ्र ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। सुमन उनके बीच में रानी मालूम होती थी। उसकी सगर्वा प्रकृति को इसमें अत्यंत आनंद प्राप्त

होता था। वह उन स्त्रियों के सामने अपने गुणों को बढ़ाकर दिखाती। वे अपने भाग्य को रोतीं, सुमन अपने भाग्य को सराहती। वे किसी की निंदा करतीं तो सुमन उन्हें समझाती। वह उनके सामने रेशमी साड़ी पहनकर बैठती, जो वह मैके से लायी थी। रेशमी जाकट खूँटी पर लटका देती। उन पर इस प्रदर्शन का प्रभाव सुमन की बातचीत से कहीं अधिक होता था। वह वस्त्राभूषण के विषय मे उसकी सम्मति को बड़ा महत्व देतीं। सुमन ऊपर से उन्हें निष्काम भाव से सलाह देती, पर उसे मन में बड़ा दुःख होता। वह सोचती यह सब नये-नये गहने बनवाती हैं; नये-नये कपड़े लेती हैं और यहाँ रोटियों के लाले हैं। क्या संसार में मैं ही सबसे अभागिन हूँ? उसने अपने घर यही सीखा था कि मनुष्य को जीवन में सुख भोग करना चाहिए। उसने कभी वह धर्म-चर्चा न सुनी थी, वह धर्म-शिक्षा न पायी थी, जो मन में संतोष का बीजारोपण करती है। उसका हृदय असंतोष से व्याकुल रहने लगा।

गजाधर इन दिनों बड़ी मेहनत करता। कारखाने से लौटते ही एक दूसरी दूकान पर हिसाब-किताब लिखने चला जाता था। वहाँ से ८ बजे रात को लौटता। इस काम के लिए उसे १५) और मिलते थे। पर उसे अपनी आर्थिक दशा में कोई अन्तर न दिखाई देता था। उसकी सारी कमाई खाने-पीने में उड़ जाती थी। उसका संचशील हृदय इस 'खा-पी बराबर' दशा से बहुत दुखी रहता। उस पर सुमन उसके सामने अपने फूटे कर्म का रोना रो-रोकर उसे और भी हताश कर देती थी। उसे स्पष्ट दिखाई देता था कि सुमन का हृदय मेरी ओर से शिथिल होता जाता है। उसे यह न मालूम था कि सुमन मेरी प्रेम-रसपूर्ण बातों से मिठाई के दोनों को अधिक आनन्द-प्रद समझती है। अतएव वह अपने प्रेम और परिश्रम का फल न पाकर उसे अपने शासनाधिकार से प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। इस प्रकार रस्सी में दोनों ओर से तनाव होने लगा।

हमारा चरित्र कितना ही दृढ़ हो, पर उस पर संगति का असर अवश्य होता है। जिन महिलाओं के साथ सुमन उठती-बैठती थी, वे अपने पतियों

को इन्द्रिय-सुख का यन्त्र समझती थीं। पति, चाहे जैसे हो, अपनी स्त्री को सुन्दर आभूषणों से उत्तम वस्त्रों से, सजाये, उसे स्वादिष्ट पदार्थ खिलाये। यदि उसमें वह सामर्थ्य नहीं है तो उसे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं था, वह आदर और प्रेम के योग्य नहीं। सुमन ने भी यही शिक्षा प्राप्त की और गजाधरप्रसाद जब कभी उसके किसी काम से नाराज होते तो उन्हें पुरुष के कर्तव्य पर एक लंबा उपदेश सुनना पड़ता था।

उस मुहल्ले में रसिक युवकों तथा शोहदों की भी कमी न थी। स्कूल से आते हुए युवक सुमन के द्वार की ओर टकटकी लगाते हुए चले जाते। शोहदे उधर से निकलते तो राधा और कान्हा के गीत गाने लगते। सुमन कोई काम करती हो, पर उन्हें चिक की आड़ से एक झलक दिखा देती। उसके चंचल हृदय को इस ताक-झाँक में असीम आनन्द प्राप्त होता था। किसी कुवासना से नहीं, केवल अपनी यौवन की छटा दिखाने के लिए, केवल दूसरों के हृदय पर विजय पाने के लिए वह यह खेल खेलती थी।

६

सुमन के घर के सामने भोली नाम की एक वेश्या का मकान था। भोली नित नये सिंगार करके अपने कोठे के छज्जे में बैठती। पहर रात तक उसके कमरे से मधुर गान की ध्वनि आया करती। कभी-कभी वह फिटन पर हवा खाने जाया करती। सुमन उसे घृणा की दृष्टि से देखती थी।

भोली ने कई बार उसे चिक की आड़ में खड़े देखकर इशारे से बुलाया था, पर सुमन उससे बोलने में अपना अपमान समझती। वह अपने को उससे बहुत श्रेष्ठ समझती थी। मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ; किसी भलेमानुस के घर में मेरी रोक तो नहीं, कोई मुझे नीच तो नहीं समझता। वह कितना ही भोग विलास करे पर उसका कहीं आदर तो नहीं होता। लेकिन सुमन को शीघ्र ही मालूम हुआ कि मैं इसे जितना नीच समझती हूँ, उससे वह कहीं ऊँची है।

आषाढ़ के दिन थे। गरमी के मारे सुमन का दम फूल रहा था, सन्ध्या को उससे किसी तरह न रहा गया। उसने चिक उठा दी और

द्वार पर बैठी पंखा झल रही थी। देखती क्या है कि भोली बाई के दरवाजे पर किसी उत्सव की तैयारियाँ हो रही हैं। इतने में भोली की निगाह उस घर पर गई। सुमन के समीप आकर बोली, आज मेरे यहाँ मौलूद है। देखना चाहो तो परदा करा दूँ।

सुमन ने बेपरवाही से कहा, मैं यहीं बैठे-बैठे देख लूँगी।

भोली—देख तो लोगी, पर सुन न सकोगी। हर्ज क्या है, ऊपर परदा करा दूँ?

सुमन—मुझे सुनने की उतनी इच्छा नहीं है।

भोली ने उसकी ओर एक करुणासूचक दृष्टि से देखा और मन में कहा, यह गँवारिन अपने मन में न जाने क्या समझे बैठी है। अच्छा आज तू देख ले कि मैं कौन हूँ? वह बिना कुछ कहे चली गई।

रात हो रही थी। सुमन का चूल्हे के सामने जाने को जी न चाहता था। बदन में यों ही आग लगी हुई है। आँच कैसे सही जायगी। पर सोच-विचार कर उठी। चूल्हा जलाया, खिचड़ी डाली और फिर आकर वहाँ तमाशा देखने लगी। आठ बजते-बजते शामियाना गैस के प्रकाश से जगमगा उठा। फूल-पत्तों की सजावट उसकी शोभा को और भी बढ़ा रही थी। चारों ओर से दर्शक आने लगे। एक घंटे में सारा आँगन भर गया। कई सौ मनुष्यों का जमाव हो गया। फिर मौलाना साहब की सवारी आई। उनके चेहरे से प्रतिभा झलक रही थी। वह सजे हुए सिंहासन पर मसनद लगाकर बैठ गए और मौलूद होने लगा। कई आदमी मेहमानों का स्वागत-सत्कार कर रहे थे। सभ्य पुरुषों का ऐसा समूह सुमन ने कभी न देखा था।

नौ बजे गजाधरप्रसाद आये। भोजन करके वह भी जाकर उसी मण्डली में बैठे। सुमन को तो खाने की भी सुध न रही। बारह बजे रात तक वहीं बैठी रही—यहाँ तक कि मौलूद समाप्त हो गया। फिर मिठाई बँटी और बारह बजे सभा विसर्जित हुई। गजाधर घर में आये तो सुमन ने कहा, यह सब कौन लोग बैठे हुए थे?

गजाधर—मैं सबको पहचानता थोड़े ही हूँ। पर भले-बुरे सभी थे। शहर के कई रईस भी थे।

सुमन—क्या यह लोग वेश्या के घर आने में अपना अपमान नहीं समझते?

गजाधर—अपमान समझते तो आते ही क्यों?

सुमन—तुम्हें तो वहाँ जाते हुए संकोच हुआ होगा?

गजाधर—जब इतने भलेमानुस बैठे हुए थे तो मुझे क्यों संकोच होने लगा।

सुमन ने विचारपूर्ण भाव से कहा, मैं समझती थी कि वेश्याओं को लोग बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

गजाधर—हाँ, ऐसे मनुष्य भी हैं, गिने-गिनाये। पर अंगरेजी शिक्षा ने लोगों को उदार बना दिया है। वेश्याओं का अब उतना तिरस्कार नहीं किया जाता। फिर भोली बाई का शहर में बड़ा मान है।

गजाधर प्रसाद दिन-भर के थके हुए थे। चारपाई पर जाते ही निद्रा में निमग्न हो गये, पर सुमन को बहुत देर तक नींद न आई।

दूसरे दिन संध्या को जब फिर वह चिक उठाकर बैठी तो उसने भोली को छज्जे पर बैठे देखा। उसने बरामदे में निकलकर भोली से कहा, रात तो आपके यहाँ बड़ी धूम थी।

भोली समझ गई कि मेरी जीत हुई! मुस्कुराकर बोली, तुम्हारे लिए शीरीनी भेज दूँ? हलवाई की बनाई हुई है। ब्राह्मण लाया है।

सुमन ने संकोच से कहा, भिजवा देना।

७

सुमन को ससुराल आये डेढ़ साल के लगभग हो चुका था, पर उसे मैके जाने का सौभाग्य न हुआ था। वहाँ से चिट्ठियाँ आती थीं। सुमन उत्तर में अपनी मा को समझाया करती, मेरी चिन्ता मत करना, मैं बहुत आनंद से हूँ, पर अब उसके उत्तर अपनी विपत्ति की कथाओं से भरे होते थे। उसने अपने पड़ोसिनों से मैके का बखान करना छोड़ दिया। कहाँ

तो उनसे अपने पति की सराहना किया करती थी, कहाँ अब उसकी निन्दा करने लगी। मेरा कोई पूछनेवाला नहीं है। घरवालों ने समझ लिया कि मर गई। घर में सब कुछ है; पर मेरे किस काम का? वह समझते होंगे, यहाँ मैं फूलों की सेज पर सो रही हूँ और मेरे ऊपर जो बीत रही है वह मैं ही जानती हूँ।

गजाधरप्रसाद के साथ उसका बर्ताव पहले से कहीं रूखा हो गया। वह उन्हीं को अपनी इस दशा का उत्तरदाता समझती थी। वह देर में सोकर उठती, कई दिन घर में झाड़ू नहीं देती। कभी-कभी गजाधर को बिना भोजन किये काम पर जाना पड़ता। उसकी समझ में न आता कि यह कायापलट क्यों हो गई है।

सुमन को अपना घर अच्छा न लगता। चित्त हर घड़ी उचटा रहता। दिन-दिन-भर पड़ोसिनों के घर बैठी रहती।

एक दिन गजाधर आठ बजे लौटे तो घर का दरवाजा बन्द पाया। सोचने लगे, रात को वह कहाँ गई है? किवाड़ खटखटाने लगे कि कहीं पड़ोस में होगी तो सुनकर चली आयेगी। मन में निश्चय कर लिया था कि आज उसकी खबर लूँगा। सुमन उस समय भोली बाई के कोठे पर बैठी हुई बातें कर रही थी। भोली ने आज उसे बहुत आग्रह करके बुलाया था। सुमन इनकार कैसे करती? उसने अपने दरवाजे का खट-खटाना सुना तो घबराकर उठ खड़ी हुई और भागी हुई घर आई। बातों में उसे मालूम ही न हुआ कि कितनी रात चली गई। उसने जल्दी से किवाड़ खोले, चटपट दीप जलाया और चूल्हे में आग जलाने लगी। उसका मन अपना अपराध स्वीकार कर रहा था। एकाएक गजाधर ने क्रुद्ध भाव से कहा, तुम इतनी रात तक वहाँ बैठी क्या कर रही थीं? क्या लाज-शर्म बिलकुल घोलकर पी ली है?

सुमन ने दीनभाव से उत्तर दिया—उसने कई बार बुलाया तो चली गई। कपड़े उतारो, अभी खाना तैयार हुआ जाता है।

गजाधर—पहले यह बताओ कि तुम वहाँ मुझसे पूछे बिना गई क्यों?

क्या तुमने मुझे बिलकुल मिट्टी का लोंदा ही समझ लिया है ? तुम्हें अपनी इज्जत आबरू का भी कुछ विचार है ?

सुमन—क्यों, भोली के घर पर जाने में कोई हानि है ? उसके घर तो बड़े-बड़े लोग आते हैं, मेरी क्या गिनती है।

गजाधर—बड़े-बड़े भले ही आयें, लेकिन मैं अपनी स्त्री को वेश्या से मेलजोल करते नहीं देख सकता। केवल धन से कोई बड़ा थोड़े ही हो जाता है ? धर्म का महत्व धन से कहीं बढ़कर है। तुम उस मौलूद के दिन का जमाव देखकर धोखे में आ गई होगी, पर यह समझ लो कि उनमें एक भी सज्जन पुरुष नहीं था। मैं तुम्हें सचेत कर देता हूँ कि आज से फिर कभी उधर मत जाना, नहीं तो अच्छा न होगा।

सुमन के मन में बात आई। ठीक ही है, धनी लोग तो वेश्याओं के दास हुआ ही करते हैं। यह बात रामभोली भी कह रही थी। मुझे बड़ा धोखा हो गया था।

सुमन को इस विचार से बड़ा संतोष हुआ। उसे विश्वास हो गया कि वे लोग नीच प्रकृति के विषय-वासनावाले मनुष्य थे। उसे अपनी दशा अब उतनी दुःखदायी न प्रतीत होती थी। उसे भोली से अपने को ऊँचा समझने के लिए एक आधार मिल गया था।

सुमन की धर्मनिष्ठा जाग्रत हो गई। वह भोली पर अपनी धार्मिकता का सिक्का जमाने के लिए नित्य गंगा-स्नान करने लगी। एक रामायण मँगवाई और कभी-कभी अपनी सहेलियों को उसकी कथाएँ सुनाती। कभी अपने आप उच्च स्वर में पढ़ती। इससे उसकी आत्मा को तो क्या शान्ति होती, पर मन को बहुत संतोष होता था। चैत का महीना था। रामनौमी के दिन सुमन कई सहेलियों के साथ एक बड़े मन्दिर में जन्मोत्सव देखने गई। मन्दिर के आँगन में तिल धरने की भी जगह न थी। संगीत की मधुर ध्वनि आ रही थी। सुमन ने खिड़की से आँगन में झाँका तो क्या देखती है कि वही उसकी पड़ोसिन भोली बैठी हुई गा रही है। सभा में एक-से एक बड़े आदमी बैठे हुए थे, उनमें से कितनों ही का सुमन नित्य गंगा-

स्नान करते देखती थी। वह उन्हें धर्मात्मा, विद्वान समझती थी। वही लोग यहाँ इस भाँति तन्मय हो रहे थे, मानों स्वर्गलोक में पहुँच गये हों! भोली जिसकी ओर कटाक्ष भरे नेत्रों से देखती थी वह मुग्ध हो जाता था, मानो साक्षात् राधाकृष्ण के दर्शन हो गए। इस दृश्य ने सुमन के हृदय पर वज्र का-सा आघात किया। उसका अभिमान चूर-चूर हो गया। वह आधार जिस पर वह पैर जमाये खड़ी थी पैरों के नीचे से सरक गया। सुमन वहाँ एक क्षण भी खड़ी न रह सकी। भोली के सामने केवल धन ही सिर नहीं झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है। धर्मात्मा लोग भी उसका आदर करते हैं।

सुमन ने घर आकर रामायण बस्ते में बाँधकर रख दी। गंगास्नान तथा व्रत से उसका मन फिर गया। कर्णधार-रहित नौका के समान उसका जीवन फिर डाँवाडोल होने लगा।

८

गजाधर ने सुमन को सुख से रखने के लिए अपने से जो कुछ हो सकता था सब करके देख लिया, पर अपनी स्त्री के लिए आकाश के तारे तोड़ लाना उसकी सामर्थ्य से बाहर था।

इन दिनो उसे सबसे बड़ी चिन्ता अपना घर बदलने की थी। वह दूसरे मकान की खोज में चारों ओर जाता पर किराया सुनते ही निराश होकर लौट आता।

एक दिन वह सेठजी के यहाँ से ८ बजे रात को लौटा तो क्या देखता है कि भोलीबाई उसकी चारपाई पर बैठी सुमन से हँस-हँसकर बातें कर रही है। क्रोध के मारे गजाधर के होंठ फड़कने लगे। भोली ने उसे देखा तो जल्दी से बाहर निकल आई और बोली, अगर मुझे मालूम होता कि आप सेठजी के यहाँ नौकर हैं तो अब तक आपकी कभी तरक्की हो जाती।

इन शब्दों ने गजाधर के घाव पर नमक छिड़क दिया।

सुमन ने उनके तेवर देखे तो समझ गई कि आग भड़का ही चाहती

है, पर वह इसके लिए तैयार बैठी हुई थी। गजाधर ने अपने क्रोध को छिपाया नहीं। चारपाई पर बैठते ही बोला, तुमने फिर भोली से नाता जोड़ा? मैंने उस दिन मना किया था।

सुमन ने सावधान होकर उत्तर दिया, उसमें कोई छूत तो नहीं लगी है। शील-स्वभाव में वह किसी से घटकर नहीं, मान मर्यादा में किसी से कम नहीं, फिर उससे बातचीत करने में मेरी क्या हेठी हुई जाती है? वह चाहे तो हम जैसों को नौकर रख ले।

गजाधर—फिर तुमने वही बेसिर-पैर की बातें कीं। मान-मर्यादा धन से नहीं होती।

सुमन—पर धर्म से तो होती है। धर्मात्मा लोग उसका आदर करते हैं। अभी रामनवमी के उत्सव में मैंने उन्हें बड़े-बड़े पण्डितों और धर्मात्माओं की मण्डली में गाते देखा। सब उसका मुँह देख रहे थे। लोग उसका आदर-सत्कार ही नही करते थे, बल्कि उससे बातचीत करने में अपना अहोभाग्य समझते थे।

गजाधर—तो तुमने उन लोगों के बड़े-बड़े तिलक-छापे देखकर ही उन्हें धर्मात्मा समझ लिया? आजकल धर्म तो धूर्तों का अड्डा बना हुआ है। वह सब-के-सब महापाखण्डी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करनेवाले, धर्म के नाम पर टका कमानेवाले; भोग-विलास करनेवाले, पापी हैं। भोली का आदर-सम्मान उनके यहाँ न होगा तो किसके यहाँ होगा?

सुमन ने सरल भाव से पूछा, फुसला रहे हो या सच कह रहे हो?

गजाधर ने उसकी ओर करुण दृष्टि से देखकर कहा, नहीं सुमन, वास्तव में यही बात है। हमारे देश में सज्जन मनुष्य बहुत कम हैं, पर अभी देश उनसे खाली नहीं है। भोली यदि अप्सरा बनकर आये तो वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे।

सुमन चुप हो गई। वह गजाधर की बातों पर विचार कर रही थी।

दूसरे दिन से सुमन ने चिक के पास खड़ा होना छोड़ दिया। खोंचेवाले आते और पुकारकर चले जाते। छैले गजल गाते हुए निकल जाते।

चिक की आड़ में अब उन्हें कोई न दिखाई देता था। भोली ने कई बार बुलाया, लेकिन सुमन ने बहाना कर दिया कि मेरी जी अच्छा नहीं है। दो-तीन बार स्वयं आई, पर सुमन उससे खुलकर न मिली।

वह पड़ोसिनों के घर भी न जाती। पड़ोसिनों का आना-जाना भी कम हो गया था। सारे दिन अपनी कोठरी में पड़ी रहती थी।

बन्द कोठरी में पड़े-पड़े उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। सिर में पीड़ा हुआ करती। कभी बुखार आ जाता, कभी दिल में धड़कन होने लगती। मन्दाग्नि के लक्षण दिखाई देने लगे। साधारण कामों से भी जी घबराता। शरीर क्षीण हो गया और कमल का-सा बदन मुरझा गया।

गजाधर को चिन्ता होने लगी।

उसे धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा कि सुमन के सारे रोग अपवित्र वायु के कारण हैं। कहाँ तो उसे चिक के पास खड़ा होने से मना किया करता था, मेलों में जाने और गंगास्नान करते से रोकता था, कहाँ अब स्वयं चिक उठा देता और सुमन को गंगास्नान करने के लिए ताकीद करता। उसके आग्रह से सुमन नियमित रूप से गंगास्नान करने लगी। मुरझाया हुआ पौधा पानी पाकर फिर लहलहाने लगा।

माघ का महीना था। एक दिन सुमन की कई पड़ोसिनें उसके साथ नहाने चलीं। मार्ग में बेनीबाग पड़ता था। उसमें नाना प्रकार के जीव-जन्तु पले हुए थे। लौटती बार सबकी सलाह हुई कि बाग की सैर करनी चाहिए। सुमन तत्काल ही लौट आया करती थी, पर आज सहेलियों के आग्रह से उसे भी बाग में जाना पड़ा। सुबह बहुत देर तक वहाँ के अद्-भुत जीवधारियों को देखती रही। अन्त में वह थककर एक बेंच पर बैठ गयी। सहसा उसके कान में आवाज आई, अरे, यह कौन औरत बेंच पर बैठी है ? उठ वहाँ से। क्या सरकार ने तेरे ही लिए बेंच रख दी है ?

सुमन ने पीछे फिरकर कातर नेत्रों से देखा। बाग का रक्षक खड़ा डाँट बता रहा था।

सुमन लज्जित होकर बेंच पर से उठ गयी और इस अपमान को भुलाने

के लिए चिड़ियों को देखने लगी। इतने में एक किराये की गाड़ी आकर चिड़िया।घर के सामने रुकी। बाग के रक्षक ने दौड़कर गाड़ी के पट खोल दिये। दो महिलाएँ उतर पड़ीं। उनमें से एक वही सुमन की पड़ोसिन भोली थी। सुमन एक पेड़ की आड़ में छिप गई और वह दोनों स्त्रियाँ बाग की सैर करने लगीं। रक्षक उनके पीछे-पीछे सेवकों की भाँति चल रहा था। थोड़ी देर बाद वह दोनों आकर उसी बेंच पर बैठ गयीं, जिस पर से सुमन उठा दी गई थी। रक्षक एक किनारे अदब से खड़ा था। यह दशा देखकर सुमन की आँखों से क्रोध के मारे चिनगारियाँ निकलने लगीं। ज्यांही दोनों वेश्याएँ वहाँ से चली गयीं, सुमन सिंहिनी की भाँति लपककर रक्षक के सम्मुख आ खड़ी हुई और क्रोध से काँपती हुई बोली, क्यों जी, तुमने मुझे ता बेंच पर से उठा दिया जैसे तुम्हारे बाप ही की है, पर उन दोनो राँड़ों से कुछ न बोले?

रक्षक ने अपमानसूचक भाव से कहा, वह और तुम बराबर! आग पर घी जो कुछ करता है वह इस वाक्य ने सुमन के हृदय पर किया। ओठ चबाकर बोली, चुप रह मूर्ख! टके के लिए वेश्याओं को जूतियाँ उठाता है, उस पर लज्जा नहीं आती। ले देख तेरे सामने फिर इस बेंच पर बैठती हूँ, देखूँ तू मुझे कैसे उठाता है।

रक्षक पहले तो कुछ डरा, किन्तु सुमन के बेंच पर बैठते ही वह उसकी ओर लपका कि उसका हाथ पकड़कर उठा दे। सुमन सिंहनी की भाँति आग्नेय नेत्रों से ताकती हुई उठ खड़ी हुई। उसकी एड़ियाँ उछली पड़ती थीं। सिसकियों के आवेग को बलपूर्वक रोकने के कारण मुँह से शब्द न निकलते थे।

इतने मे फिर एक गाड़ी सामने से आ पहुँची। रक्षक अभी सुमन से हाथापाई कर ही रहा था कि गाड़ी में से एक भलेमानस उतरकर चौकीदार के पास झपटे हुए आये और उसे जोर से धक्का देकर बोले, क्यों बे, इनका हाथ क्यों पकड़ता है? दूर हट।

चौकीदार हकबकाकर पीछे हट गया। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने

लगीं। हाथ-पैर जोड़ने लगा। इतने में गाड़ी में बैठी हुई महिला ने सुमन को इशारे से बुलाया। दोनों स्त्रियों में परिचय हुआ। रमणी का नाम सुभद्रा था। वह भी सुमन के मुहल्ले में, पर उसके मकान से जरा दूर रहती थी। उसके पति वकील थे। स्त्री-पुरुष गंगास्नान करके घर जा रहे थे। यहाँ पहुँचकर उसके पति ने देखा कि चौकीदार एक भले घर की स्त्री से झगड़ा कर रहा है तो गाड़ी से उतर पड़े।

सुभद्रा सुमन के रंग-रूप, बातचीत पर ऐसी मोहित हुई कि उसे अपनी गाड़ी में बिठा लिया। वकील साहब कोचबक्स पर जा बैठे। गाड़ी चली। सुमन को ऐसा मालूम हो रहा था कि मैं विमान पर बैठी स्वर्ग को जा रही हूँ। सुभद्रा का स्वभाव ऐसा नम्र, व्यवहार ऐसा सरल तथा विनयपूर्ण था कि सुमन का हृदय पुलकित हो गया। रास्ते में उसने अपनी सहेलियों को जाते देख खिड़की खोलकर उनकी ओर गर्व से देखा, मानो कह रही थीं, तुम्हें भी कभी यह सौभाग्य प्राप्त हो सकता है? पर इस गर्व के साथ ही उसे यह भय भी था कि कहीं मेरा मकान देखकर मेरा तिरस्कार न करने लगें। यह कैसी भाग्यवान् स्त्री है! कैसा देवरूप पुरुष है! यह न आ जाते तो वह निर्दयी चौकीदार न जाने मेरी क्या दुर्गति करता। कितनी सज्जनता है! वह इन्हीं विचारों में थी कि उसका घर आ गया। उसने सकुचाते हुए सुभद्रा से कहा, गाड़ी रुकवा दीजिए, मेरा घर आ गया।

सुभद्रा ने गाड़ी रुकवा दी। सुमन उठ खड़ी हुई और सुभद्रा की ओर सजल नेत्रों से देखती हुई बोली—इतना प्रेम लगाकर बिसार मत देना। मेरा मन लगा रहेगा।

सुभद्रा ने कहा, नहीं बहिन, अभी तो तुमसे कुछ बातें भी न करने पायी। मैं तुम्हें कल बुलाऊँगी।

सुमन उतर पड़ी। गाड़ी चली गयी। सुमन अपने घर में गयी तो उसे ऐसा मालूम हुआ मानो कोई आनन्दमय स्वप्न देखकर जागी है।

गजाधर ने पूछा, यह गाड़ी किसकी थी?

सुमन—यहीं के कोई वकील हैं। बेनीबाग में उनकी स्त्री से भेंट हो

गई। जिद करके गाड़ी पर बिठा लिया। मानती ही न थीं।

गजाधर—तो क्या तुम वकील के साथ बैठी थीं?

सुमन—कैसी बातें करते हो? वह बेचारे तो कोचवान के साथ बैठे थे। दोनों सज्जनता के अवतार हैं।

गजाधर—अच्छा, चल के चूल्हा जलाओ, बहुत बखान हो चुका।

सुमन—तुम वकील साहब को जानते तो होगे?

गजाधर—इस मुहल्ले में तो वही एक पद्मसिंह वकील हैं? वही रहे होंगे।

सुमन—कोई बड़े वकील हैं?

गजाधर—मैं उनका जमा-खर्च थोड़े ही लिखता हूँ। आते-जाते कभी-कभी देख लेता हूँ। आदमी अच्छे हैं।

सुमन ताड़ गई कि वकील साहब की चर्चा गजाधर को अच्छी नहीं मालूम होती। उसने कपड़े बदले और भोजन बनाने लगी।

६

दूसरे दिन सुमन नहाने न गई। सबेरे से ही अपनी एक रेशमी साड़ी की मरम्मत करने लगी।

दोपहर को सुभद्रा की एक महरी उसे लेने आई। सुमन ने मन में सोचा था, गाड़ी आयेगी। उसका जी छोटा हो गया। वही हुआ जिसका उसे भय था।

वह महरी के साथ सुभद्रा के घर गई और दो-तीन घंटे तक बैठी रही। उसका वहाँ से उठने को जी न चाहता था। उसने अपने मैके का रत्ती-रत्ती हाल कह सुनाया पर सुभद्रा अपनी सुसराल की ही बातें करती रही।

दोनों स्त्रियों में मेल-मिलाप बढ़ने लगा। सुभद्रा जब गंगा नहाने जाती तो सुमन को साथ ले जाती। सुमन को भी नित्य एक बार सुभद्रा के घर गये बिना कल न पड़ता था।

सुभद्रा कोई काम करती होती तो सुमन स्वयं उसे करने लगती। कभी कभी पण्डित पद्मसिंह के लिए जलपान बना देती, कभी पान लगाकर

भेज देती। इन कामों में उसे जरा भी आलस्य न होता था। उसकी दृष्टि में सुभद्रा-सी सुशीला और पद्मसिंह सरीखे सज्जन मनुष्य संसार में और न थे।

एक बार सुभद्रा को ज्वर आने लगा। सुमन कभी उसके पास से न टलती। अपने घर एक क्षण के लिए जाती और कच्चा-पक्का खाना बनाकर फिर भाग आती। पर गजाधर उसकी इन बातों से जलता था। उसे सुमन पर विश्वास न था। वह उसे सुभद्रा के यहाँ जाने से रोकता था, पर सुमन उसका कहना न मानती थी।

फागुन के दिन थे। सुमन को यह चिन्ता हो रही थी कि होली के लिए कपड़ो का क्या प्रबन्ध करे? गजाधर को इधर एक महीने से सेठजी ने जवाब दे दिया था। उसे अब केवल १५) का ही आधार था। वह एक तंजेब की साड़ी और एक रेशमी मखमल की जाकेट के लिए गजाधर से कई बार कह चुकी थी, पर गजाधर हूँ-हाँ करके टाल जाता था। वह सोचती, यह पुराने कपड़े पहनकर सुभद्रा के घर होली खेलने कैसे जाऊँगी।

इसी बीच में सुमन को अपनी माता के स्वर्गवास होने का शोक समाचार मिला। सुमन को इसका उतना शोक न हुआ जितना होना चाहिए था, क्योंकि उसका हृदय अपनी माता की ओर से फट गया था। लेकिन होली के लिए नये और उत्तम वस्त्रों की चिन्ता से निवृत्ति हो गई। उसने सुभद्रा से कहा—बहूजी, अब मैं अनाथ हो गई। अब गहने कपड़े की तरफ ताकने को जी नहीं चाहता। बहुत पहन चुकी। इस दुःख ने सिंगार-पटार की अभिलाषा ही नहीं रहने दी। जी अधम है, शरीर से निकलता नहीं, लेकिन हृदय पर जो कुछ बीत रही है वह मैं ही जानती हूँ। अपनी सहचारियों से भी उसने ऐसी ही शोकपूर्ण बातें कीं।

एक दिन वह सुभद्रा के साथ बैठी रामायण पढ़ रही थी कि पद्मसिंह प्रसन्नचित्त घर में आकर बोले, आज बाज़ी मार ली।

सुभद्रा ने उत्सुक होकर कहा—सच?

पद्मसिंह—अरे क्या अबकी भी सन्देह था?

सुभद्रा—अच्छा तो लाइए मेरे रुपए दिलवाइए, वहाँ आपकी बाज़ी

थी, यहाँ मेरी बाजी है।

पद्म—हाँ, हाँ, तुम्हारे रुपए मिलेंगे, जरा सब्र करो। मित्र लोग आग्रह कर रहे हैं कि धूमधाम से आनन्दोत्सव किया जाय।

सुभद्रा—हाँ, कुछ-न-कुछ तो करना ही पड़ेगा और यह उचित भी है।

पद्म—मैंने प्रीतिभोज का प्रस्ताव किया, किन्तु इसे कोई स्वीकार नहीं करता। लोग भोली बाई का मुजरा कराने के लिए अनुरोध कर रहे हैं।

सुभद्रा—अच्छा तो उन्हीं की मान लो, कौन हजारों का खर्च हैं। होली भी आ गयी है, बस होली के दिन रखो। 'एक पन्थ दो काज' हो जायगा।

पद्म—खर्च की बात नहीं, सिद्धांत की बात है।

सुभद्रा—भला, अबकी बार सिद्धांत के विरुद्ध ही सही।

पद्म—विट्ठलदास किसी तरह राजी नहीं होते। पीछे पड़ जाएँगे।

सुभद्रा—उन्हें बकने दो। संसार के सभी आदमी उनकी तरह थोड़े ही हो जायँगे।

पण्डित पद्मसिंह आज कई वर्षों के विफल उद्योग के बाद म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर बनने में सफल हुए थे। इसी के आनन्दोत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। वे प्रीतिभोज करना चाहते थे, किन्तु मित्र लोग मुजरे पर जोर देते थे। बाबू विट्ठलदास उनके परम मित्र थे। यह वेश्याओं के नाच-गाने के कट्टर शत्रु थे। इस कुप्रथा को मिटाने के लिए उन्होंने एक सुधारक संस्था स्थापित की थी। पण्डित पद्मसिंह उनके इने-गिने अनुयायिओं में थे। इसलिए विट्ठलदास से डरते थे। यद्यपि पण्डितजी स्वयं बड़े आचारवान् मनुष्य थे, तथापि अपने सिद्धांतों पर स्थिर रहने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी। कुछ तो मुरौव्वत से, कुछ अपने सरल स्वभाव से और कुछ मित्रों की व्यंगोक्ति के भय से वह अपने पक्ष पर अड़ न सकते थे।

वह अपने वेश्याभक्त मित्रों से सहमत हो गये। भोली बाई का मुजरा होगा, यह बात निश्चित हो गई।

इसके चार दिन पीछे होली आई। उसी रात को पद्मसिंह की बैठक ने

नृत्यशाला का रूप धारण किया। सुन्दर रंगीन कालीनों पर मित्रवृन्द बैठे हुए थे और भोलीबाई अपने समाजियों के साथ मध्य में बैठी हुई भाव बता-बताकर मधुर स्वर में गा रही थी।

सुमन और सुभद्रा दोनों झरोखे में चिक की आड़ से यह जल्सा देख रही थीं। सुभद्रा को भोली का गाना नीरस, फीका मालूम होता था। सुमन अधिक रसज्ञा थी। वह गाने को समझती थी और ताल-स्वर का ज्ञान रखती थी। गीत कान में आते ही उसके स्मरण-पट पर अंकित हो जाते थे।

लेकिन उसका सारा ध्यान गान पर ही न था। वह देखती थी कि सैकड़ों आँखें भोली बाई की ओर लगी हुई हैं। उन नेत्रों में कितनी तृष्णा थी! कितनी विनम्रता, कितनी उत्सुकता! उनकी पुतलियाँ भोली के एक-एक इशारे पर एक-एक भाव पर नाचती थीं, चमकती थीं। जिसपर उसकी दृष्टि पड़ जाती थी वह आनन्द से गद्गद हो जाता और जिससे वह हँस-कर दो एक बातें कर लेती थी उसे तो मानों कुबेर का धन मिल जाता था।

सुमन सोचने लगी, इस स्त्री में कौन-सा जादू है।

सौन्दर्य! हाँ, हाँ, वह रूपवती है, इसमें सन्देह नहीं। मगर मैं भी तो ऐसी बुरी नहीं हूँ। पण्डितजी के कमरे में एक बड़ा शीशा था। सुमन इस शीशे के सामने जाकर खड़ी हो गई और उसने अपना नख से शिख तक देखा। भोलीबाई के अपने हृदयांकित चित्र से अपने एक-एक अंग की तुलना की। तब उसने आकर सुभद्रा से कहा, बहूजी, एक बात पूछूँ, बुरा न मानना। यह इन्द्र की परी क्या मुझसे भी सुन्दर है?

सुभद्रा ने उसकी ओर कौतूहल से देखा और मुस्कुराकर पूछा, यह क्यों पूछती हो?

सुमन ने शर्म से सिर झुकाकर कहा, कुछ नहीं, यों हीं। बतलाओ!

सुभद्रा ने कहा, उसका सुख का शरीर है, इसलिए कोमल है, लेकिन रंग-रूप में वह तुम्हारे बराबर नहीं।

सुमन ने फिर सोचा, तो क्या उसके बनाव-सिंगार पर गहने-कपड़े पर लोग इतने रीझे हुए हैं? मैं भी यदि वैसा बनाव-चुनाव करूँ, वैसे गहने-

कपड़े पहनूँ, तो मेरा रंग-रूप और न निखर जायगा, मेरा यौवन और न चमक जायगा! लेकिन कहाँ मिलेंगे?

क्या लोग उसके स्वर-लालित्य पर इतने मुग्ध हो रहे हैं? उसके गले में लोच नहीं, मेरी आवाज उससे बहुत अच्छी है। अगर कोई महीने-भर भी सिखा दे तो मैं उससे अच्छा गाने लगूँ। मैं भी वक्र नेत्रों से देख सकती हूँ। मुझे भी लज्जा से आँखें नीची करके मुस्कराना आता है।

सुमन बहुत देर तक वहाँ बैठी कार्य से कारण का अनुसंधान करती रही। अन्त मे वह इस परिणाम पर पहुँची कि वह स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं। उसकी दूकान खुली है इसलिए ग्राहकों की इतनी भीड़ है, मेरी दूकान बन्द है इसलिए कोई खड़ा नहीं होता। वह कुत्तों के भूँकने की परवाह नहीं करती, मैं लोक-निन्दा से डरती हूँ। इसी लज्जा ने, इसी उपहास के भय ने मुझे दूसरे की चेरी बना रखा है।

आधी रात बीत चुकी थी। सभा विसर्जित हुई। लोग अपने-अपने घर गये। सुमन भी अपने घर की ओर चली। चारों तरफ अंधकार छाया हुआ था। सुमन के हृदय में भी नैराश्य का कुछ ऐसा ही अंधकार था। वह घर जाती तो थी, पर बहुत धीरे-धीरे, जैसे घोड़ा बम की तरफ जाता है।

गजाधर नियमानुसार नौ बजे घर आया। किवाड़ बन्द थे। चकराया कि इस समय सुमन कहाँ गई! पड़ोस में एक विधवा दर्जिन रहती थी, जाकर उससे पूछा। मालूम हुआ कि सुभद्रा के घर किसी काम से गई है। कुंजी मिल गई, आकर किवाड़ खोले, खाना तैयार था। वह द्वार पर बैठकर सुमन की राह देखने लगा। जब दस बज गये तो उसने खाना परसा। लेकिन क्रोध में कुछ खाया न गया। उसने सारी रसोई उठाकर बाहर फेंक दी और भीतर से किवाड़ बन्द करके सो रहा। मन में यह निश्चय कर लिया कि आज कितना ही सर पटके किवाड़ न खोलूँगा, देखें कहाँ जाती है। किन्तु बहुत देर तक नींद नहीं आई। जरा-सी आहट होती तो वह डंडा लिये किवाड़ के पास आ जाता। उस समय यदि सुमन उसे मिल जाती तो उसकी कुशल न थी। ग्यारह बजने

के बाद निद्रा का देव उसे दबा बैठा।

सुमन जब अपने द्वार पर पहुँची तो उसके कान में एक बजने की आवाज आई। वह आवाज उसकी नस-नस में गूँज उठी। वह अभी तक दस-ग्यारह के धोखे में थी। प्राण सूख गये। उसने किवाड़ की दरारों में झाँका, ढेबरी जल रही थी, उसके धुएँ से कोठरी भरी हुई थी और गजाधर हाथ में डण्डा लिये चित्त पड़ा जोर से खर्राटे ले रहा था। सुमन का हृदय काँप उठा, किवाड़ खटखटाने का साहस न हुआ।

पर इस समय जाऊँ कहाँ, पद्मसिंह के घर का दरवाजा भी बन्द हो गया होगा दोनों कहार सो गये होंगे। बहुत चीखने-चिल्लाने पर किवाड़ तो खुल जायेंगे, लेकिन वकील साहब अपने मन में जाने क्या समझें। नहीं, वहाँ जाना उचित नहीं, क्यों न यहीं बैठी रहूँ। एक बज ही गया है, तीन-चार घंटे में सबेरा हो जायगा। यह सोचकर वह बैठ गई, किन्तु यह धड़का लगा हुआ था कि कोई मुझे इस तरह यहाँ बैठे देख ले तो क्या हो ? समझेगा कि चोर है, घात में बैठा है। सुमन वास्तव में अपने ही घर में चोर बनी हुई थी।

सुमन ने सोचा, मैं कैसी हतभागिनी हूँ। एक वह स्त्रियाँ हैं जो आराम से तकिये लगाये सो रही हैं, लौंडियाँ पैर दबाती हैं। एक मैं हूँ कि यहाँ बैठी हुई अपने नसीब को रो रही हूँ। मैं यह सब दुःख क्यों झेलती हूँ ? एक झोपड़ी में टूटी खाट पर सोती हूँ, रूखी रोटियाँ खाती हूँ, नित्य झुड़कियाँ सुनती हूँ, क्यों ? मर्यादा-पालन के लिए ही न ? लेकिन संसार मेरे इस मर्यादा-पालन को क्या समझता है ? उसकी दृष्टि में इसका क्या मूल्य है ? क्या यह मुझसे छिपा हुआ है ? दशहरे के मेले में, मोहर्रम के मेले में, फूलबाग में, मन्दिर में, सभी जगह तो देख रही हूँ। आज तक मैं समझती थी कि कुचरित्र लोग ही इन रमणियों पर जान देते हैं, किन्तु आज मालूम हुआ कि उनकी पहुँच सच्चरित्र और सदाचारशील पुरुषों में भी कम नहीं है। वकील साहब कितने सज्जन आदमी हैं, लेकिन वह आज भोली बाई पर कैसे लट्टू हो रहे थे !

इस तरह सोचते हुए वह उठी कि किवाड़ खटखटाऊँ, जो कुछ होना है हो जाय। ऐसा कौन-सा सुख भोग रही हूँ जिसके लिए यह आपत्ति सहूँ? लेकिन गजाधर के डंडे को देखते ही फिर छाती दहल गई। पशु-बल ने मनुष्य को परास्त कर दिया।

अकस्मात् सुमन ने दो कान्स्टेबलों को कन्धे पर लठ्ठ रखे आते देखा। अन्धकार मे वह बहुत भयंकर देख पड़ते थे। सुमन का रक्त सूख गया, कहीं छिपने की जगह न थी। सोचने लगी कि यदि यहीं बैठी रहूँ तो यह सब अवश्य ही कुछ पूछेंगे, तो क्या उत्तर दूँगी। वह झपटकर उठी और जोर से किवाड़ खटखटाया। चिल्लाकर बोली, दो घड़ी से चिल्ला रहा हूँ, सुनते ही नहीं।

गजाधर चौंका। पहली नींद पूरी हो चुकी थी। उठकर किवाड़ खोल दिये। आवाज में कुछ भय था, कुछ घबराहट। सुमन ने कृत्रिम क्रोध के स्वर मे कहा, वाह रे सोनेवाले! घोड़े बेचकर सोये हो क्या? दो घड़ी से चिल्ला रही हूँ, मिनकते ही नहीं। ठण्ड के मारे हाथ-पाँव अकड़ गये।

गजाधर-निःशंक होकर बोला, मुझसे उड़ो मत, बताओ सारी रात कहाँ रहीं?

सुमन निर्भय होकर बोली, कैसी रात, नौ बजे सुभद्रा देवी के घर पर गई थी। दावत थी, बुलावा आया था। दस बजे उनके यहाँ से लौट आई। दो घण्टे से तुम्हारे द्वार पर खड़ी चिल्ला रही हूँ। बारह बजे होंगे, तुम्हें अपनी नींद में कुछ सुधि भी रहती है?

गजाधर—बिलकुल झूठ है, बारह का घंटा अपने कानों से सुनकर सोया हूँ। अब यह धोंधली एक न चलेगी, साफ-साफ बताओ तुम अब तक कहाँ रहीं? मैं तुम्हारा रंग आजकल देख रहा हूँ। अन्धा नहीं हूँ। मैंने भी त्रियाचरित्र पढ़ा है। ठीक-ठीक बता दो, नहीं तो आज जो कुछ होना है हो जायगा।

सुमन— एक बार तो कह दिया कि मैं दस-ग्यारह बजे यहाँ आ गयी। अगर तुम्हें विश्वास नहीं आता, न आये। जो गहने गढ़ाते हो मत गढ़ाना।

रानी रूठेंगी अपना सुहाग लेंगी। जब देखो म्यान से तलवार बाहर ही रहती है, न जाने किस बिरते पर !

यह कहते-कहते सुमन चौंक गयी। उसे ज्ञात हुआ कि मैं सीमा से बाहर हुई जाती हूँ। अभी द्वार पर बैठी हुई उसने जो-जो बातें सोची थीं और मन में जो बातें स्थिर की थीं, वह सब उसे विस्मृत हो गयीं। लोकाचार और हृदय में जमे हुए विचार हमारे जीवन में आकस्मिक परिवर्तन नहीं होने देते।

गजाधर सुमन की यह कठोर बातें सुनकर सन्नाटे में आ गया। यह पहला ही अवसर था कि सुमन यों उसके मुँह आई थी। क्रोधोन्मत्त होकर बोला, क्या तू चाहती है कि जो कुछ तेरा जी चाहे किया करे और मैं चूँ न करूँ। तू सारी रात न जाने कहाँ रही, अब जो पूछता हूँ तो कहती है मुझे तुम्हारी परवाह नहीं है, तुम मुझे क्या कर देते हो ? मुझे मालूम हो गया कि शहर का पानी तुझे भी लगा, तूने भी अपनी सहेलियों का रंग पकड़ा। कितना समझाता रहा कि इन चुड़ैलों के साथ न बैठ, मेले-ठेले मत जा, लेकिन तूने न सुना—न सुना। मुझे तू जब तक न बता देगी कि तू सारी रात कहाँ रही, तब तक मैं तुझे घर में न पैठने दूँगा। न बतायेगी तो समझ ले कि आज से तू मेरी कोई नहीं, तेरा जहाँ जी चाहे जा, जो मन में आये कर।

सुमन ने कातर भाव से कहा, वकील साहब के घर को छोड़कर मैं और कहीं नहीं गई; तुम्हें विश्वास न हो तो आप जा कर पूछ लो। वहीं चाहे जितनी देर लगी हो। गाना हो रहा था, सुभद्रा देवी ने आने नहीं दिया।

गजाधर ने लांछनायुक्त शब्दों में कहा, अच्छा, तो अब वकील साहब से मन मिला है, यह कहो, फिर भला मजूर की परवाह क्यों होने लगी ?

वह सरोष होकर बोली, कैसी बातें मुँह से निकालते हो, हक-नाहक एक भलेमानस को बदनाम करते हो। मुझे आज देर हो गई है, मुझे जो चाहो कहो, मारो, पीटो; वकील साहब को क्यों बीच में घसीटते हो ? वह

बेचारे तो जब तक मैं घर में रहती हूँ, अन्दर कदम नहीं रखते।

गजाधर बोला; चल छोकरी, मुझे न चरा, ऐसे-ऐसे कितने भले आद-मियों को देख चुका हूँ। वह देवता हैं, उन्हीं के पास जा। यह झोंपड़ी तेरे रहने योग्य नहीं है। तेरे हौसले बढ़ रहे हैं। अब तेरा गुजर यहाँ न होगा।

सुमन देखती थी कि बात बढ़ती जाती है। यदि उसकी बातें किसी तरह लौट सकतीं तो उन्हें लौटा लेती, किन्तु निकला हुआ तीर कहाँ लौटता है? सुमन रोने लगी और बोली—मेरी आँखें फूट जायँ, अगर मैंने उनकी तरफ ताका भी हो। मेरी जीभ गिर जाय, अगर मैंने उनसे एक बात भी की हो। जरा मन बहलाने सुभद्रा के पास चली जाती हूँ। अब मना करते हो, न जाऊँगी।

मन में जब एक बार भ्रम का प्रवेश हो जाता है तो उसका निकलना कठिन हो जाता है। गजाधर ने समझा कि सुमन इस समय केवल मेरा क्रोध शान्त करने के लिए यह नम्रता दिखा रही है। कटुतापूर्ण स्वर से बोला, नहीं, जाओगी क्यों नहीं। वहाँ ऊँची अटारी सैर को मिलेगी, पक-वान खाने को मिलेंगे, फूलों की सेज पर सोओगी, नित्य राग-रंग की धूम रहेगी।

व्यंग और क्रोध में आग और तेल का सम्बन्ध है। व्यंग हृदय को इस प्रकार विदीर्ण कर देता है जैसे छेनी बर्फ के टुकड़े को। सुमन क्रोध से विह्वल होकर बोली, अच्छा तो जबान सँभालो, बहुत हो चुका। घंटे-भर से मुँह में जो अनाप-शनाप आता है बकते जाते हो। मैं तरह देती हूँ, उसका यह फल है। मुझे कोई कुलटा समझ लिया है?

गजाधर—मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।

सुमन—तुम मुझे मिथ्या पाप लगाते हो, ईश्वर तुमसे समझेंगे।

गजाधर—चली जा मेरे घर से राँड़, कोसती है।

सुमन जैसी सगर्वा स्त्री इस अपमान को सह न सकी। घर से निका-लने की धमकी भयंकर इरादों को पूरा कर देती है।

सुमन बोली—अच्छा लो, जाती हूँ।

यह कहकर उसने दरवाजे की तरफ एक कदम बढ़ाया, किन्तु अभी उसने जाने का निश्चय नहीं किया था।

गजाधर एक मिनट तक कुछ सोचता रहा, फिर बोला, अपने गहने-कपड़े लेती जा, यहाँ कोई काम नहीं है।

इस वाक्य ने टिमटिमाते हुए आशारूपी दीपक को बुझा दिया। सुमन को विश्वास हो गया कि अब यह घर मुझसे छूटा। रोते हुए संदूकची उठा ली और द्वार से निकल आई। अभी तक उसकी आस नहीं टूटी थी। वह समझती थी कि गजाधर अब भी मनाने आयेगा। इसलिए वह दरवाजे के सामने सड़क पर चुपचाप खड़ी रही। रोते-रोते उसका आँचल भींग गया था। एकाएक गजाधर ने दोनों किवाड़ जोर से बन्द कर लिए। वह मानों सुमन की आशा का द्वार था जो सदैव के लिए उसकी ओर से बन्द हो गया। सोचने लगी, कहाँ जाऊँ? उसे अब ग्लानि और पश्चात्ताप के बदले गजाधर पर क्रोध आ रहा था। उसने अपनी समझ में ऐसा कोई काम नहीं किया था, जिसका ऐसा कठोर दण्ड मिलना चाहिए था। उसे घर आने में देर हो गयी थी इसलिए दो-चार घुड़कियाँ बहुत थीं। यह निर्वासन उसे घोर अन्याय प्रतीत होता था। उसने गजाधर को मनाने के लिए क्या नहीं किया! विनती की, खुशामद की, रोयी, किन्तु उसने सुमन का अपमान ही नहीं किया, उस पर मिथ्या दोषारोपण भी किया। इस समय यदि गजाधर मनाने भी आता तो सुमन राजी न होती। उसने चलते-चलते कहा था, जाओ, अब मुँह मत दिखाना। यह शब्द उसके कलेजे में चुभ गये थे। मैं ऐसी गयी-बीती हूँ कि अब वह मेरा मुँह भी नहीं देखना चाहते, तो फिर उन्हें क्यों मुँह दिखाऊँ? क्या संसार में सब स्त्रियों के पति होते हैं? क्या अनाथाएँ नहीं हैं? मैं भी अब अनाथा हूँ। वसन्त के समीर और ग्रीष्म की लू में कितना अन्तर है! एक सुखद और प्राणपोषक, दूसरी अग्निमय और विनाशिनी। प्रेम वसन्त-समीर है, द्वेष ग्रीष्म की लू। जिस पुष्प को वसन्त-समीर महीनों में खिलाता है, उसे लू का एक झोंका जलाकर राख कर देती है। सुमन के घर से

थोड़ी दूर पर एक खाली बरामदा था। वहाँ जाकर उसने सन्दूकची सिरहाने रखी और लेट गयी। तीन बज चुके थे। दो घण्टे उसने यह सोचने में काटे कि कहाँ जाऊँ। उसकी सहचरियों में हिरिया नाम की एक दुष्ट स्त्री थी, वहाँ आश्रय मिल सकता था, किन्तु सुमन उधर नहीं गई। आत्मसम्मान का कुछ अंश अभी बाकी था। अब वह एक प्रकार से स्वच्छन्द थी और उन दुष्कामनाओं को पूर्ण कर सकती थी जिनके लिए उसका मन बरसों से लालायित हो रहा था। अब उस सुखमय जीवन के मार्ग में कोई बाधा न थी। लेकिन जिस प्रकार बालक किसी गाय या बकरी को दूर से देखकर प्रसन्न होता है, पर उसके निकट आते ही भय से मुँह छिपा लेता है, उसी प्रकार सुमन अभिलाषाओं के द्वार पर पहुँचकर भी भीतर प्रवेश न कर सकी। लज्जा, खेद, घृणा, अपमान ने मिलकर उसके पैरों में बेड़ी-सी डाल दी। उसने निश्चय किया कि सुभद्रा के घर चलूँ। वहीं खाना पका दिया करूँगी, सेवा-टहल करूँगी और पड़ी रहूँगी। आगे ईश्वर मालिक है।

उसने सन्दूकची आँचल में छिपा ली और पंडित पद्मसिंह के घर आ पहुँची। भीतर जाते हुए कुछ संकोच हुआ लेकिन जीतन कहार को आते देखकर वह शीघ्रता से अन्दर चली गयी। सुभद्रा ने आश्चर्य से पूछा—घर से इतने सबेरे कैसे चलीं?

सुमन ने कुण्ठित स्वर से कहा, घर से निकाल दी गयी हूँ।

सुभद्रा—अरे! यह किस बात पर?

सुमन—यही कि रात मुझे यहाँ से जाने में देर हो गयी।

सुभद्रा—इस जरा-सी बात का इतना बतंगड़। देखो, मैं उन्हें बुलवाती हूँ, विचित्र मनुष्य हैं।

सुमन—मैं अब उसका मुँह नहीं देखना चाहती।

सुभद्रा—तो क्या ऐसा बिगाड़ हो गया है?

सुमन—हाँ, अब ऐसा ही है। अब उससे मेरा कोई नाता नहीं।

सुभद्रा ने सोचा अभी क्रोध में कुछ न सूझेगा, दो-एक रोज में शांत

हो जायगी। बोली, अच्छा मुँह-हाथ तो धो डालो, आँखें चढ़ी हुई हैं, मालूम होता है, रात भर सोयी नहीं हो। कुछ देर सो लो, फिर बातें होंगी।

सुमन—आराम से सोना ही लिखा होता तो क्या ऐसे कुपात्र से पाला पड़ता। अब तो तुम्हारी शरण आयी हूँ। शरण दोगी तो रहूँगी, नहीं कहीं मुँह में कालिख लगा कर डूब मरूँगी। मुझे एक कोने में थोड़ी-सी जगह दे दो, वहीं पड़ी रहूँगी। अपने से जो कुछ हो सकेगा, तुम्हारी सेवा-टहल कर दिया करूँगी।

जब पंडित जी भीतर आये तो सुभद्रा ने सारी कथा उनसे कही। पंडित जी बड़ी चिन्ता में पड़े। एक अपरिचित स्त्री को उसके पति से पूछे बिना अपने घर में रखना अनुचित मालूम हुआ। निश्चय किया कि चलकर गजाधर को बुलवाऊँ और समझा कर उसका क्रोध शान्त कर दूँ। इस स्त्री का यहाँ से चला जाना ही अच्छा है।

उन्होंने बाहर आकर तुरन्त गजाधार के बुलाने को आदमी भेजा, लेकिन वह घर पर न मिला। कचहरी से आकर पण्डितजी ने फिर गजाधर को बुलवाया, लेकिन फिर वही हाल हुआ।

उधर गजाधर को ज्योंही मालूम हुआ कि सुमन पद्मसिंह के घर गयी है, उसका सन्देह पूरा हो गया। वह घूम-घूमकर शर्मा जी को बदनाम करने लगा। पहले विठलदास के पास गया। उन्होंने उसकी कथा को वेद-वाक्य समझा। उसके विश्वासी हृदय में सारे जगत के प्रति सहानुभूति थी, किन्तु अपने वादी के प्रति लेशमात्र भी सहानुभूति न थी। वैमनस्य मे अन्धविश्वास की चेष्टा होती है। जब से पद्मसिंह ने मुजरे का प्रस्ताव किया था विठलदास को उनसे द्वेष हो गया था। वह यह समाचार सुनते ही फूले न समाये। शर्मा जी के मित्र और सहयोगियों के पास जा-जाकर इसकी सूचना दे आये।

आश्चर्य तो यह था कि जो लोग शर्माजी के स्वभाव से भलीभाति परिचित थे उन्होंने भी इस पर विश्वास कर लिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल जीतन किसी काम से बाजार गया। चारों तरफ

यही चर्चा सुनी। घबराया हुआ घर आया और बोला, भया, बहूजी ने जो गजाधर की दुलहिन को घर में ठहरा लिया है, इस पर बाजार में बड़ी बदनामी हो रही है। ऐसा मालूम होता है कि वह गजाधर से लड़कर आयी है।

वकील साहब ने यह हाल सुना तो सन्नाटे में आ गये। मूर्तिवत् खड़े सोचते रहे कि क्या करूँ? इसके सिवा और कौन-सा उपाय है कि घर से निकाल दूँ। सुभद्रा पर जी में झुँझलाये। इसे क्या पड़ी थी कि उसे अपने घर में ठहराया। मुझसे पूछा तक नहीं। उसे तो घर में बैठे रहना है, दूसरों के सामने आँखें तो मेरी नीची होंगी। मगर यहाँ से निकाल दूँगा तो बेचारी जायगी कहाँ? यहाँ तो उसका कोई ठिकाना नहीं मालूम होता। गजाधर अब उसे शायद अपने घर में न रखेगा। दिल में मुझे दयाहीन और क्रूर समझेगी। लेकिन बदनामी से बचने का यही एकमात्र उपाय है। इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता। यह विवेचना करके वह जीतन से बोले, घर में जाओ और सुमन से कहो कि तुम्हारे यहाँ रहने से उनकी बदनामी हो रही है। जिस तरह बन पड़े आज ही यहाँ से चली जाय। जरा आदमी की तरह बोलना, लाठी मत मारना। खूब समझा कर कहना कि उनका कोई वश नहीं है।

यद्यपि शर्माजी ने समझा दिया था कि सावधानी से बातचीत करना किन्तु उसने जाते-ही-जाते सुमन का नाम लेकर जोर से पुकारा। सुमन शर्माजी के लिए पान लगा रही थी। जीतन की आवाज सुनकर चौंक पड़ी और कातर नेत्रों से उसकी ओर ताकने लगी।

जीतन ने कहा, ताकती क्या हो, वकील साहब का हुक्म है कि आज ही यहाँ से चली जाओ। सारे देश-भर में बदनाम कर दिया। तुमको लाज नहीं है, उनको तो नाम की लाज है। बाँड़ा आप गये, चार हाथ की पगहिया भी लेते गये।

सुभद्रा के कान में भी भनक पड़ी। आकर बोली, क्या है जीतन, क्या कह रहे हो?

जीतन—कुछ नहीं, सरकार का हुक्म है कि यह अभी यहाँ से चली जायँ। देश-भर में बदनामी हो रही है।

सुभद्रा—तुम जाकर जरा उन्हीं को यहाँ भेज दो।

सुमन की आँखों में आँसू भरे थे। खड़ी होकर बोली, नहीं बहूजी, उन्हें क्यों बुलाती हो? कोई किसी के घर में जबर्दस्ती थोड़े ही रहता है। मैं अभी चली जाती हूँ। सुमन को शर्माजी से ऐसी आशा न थी। उस स्वाधीनता के साथ जो आपत्ति में हृदय पर अधिकार पा जाती है उसने शर्माजी को दुरात्मा, भीरु, दयाशून्य तथा नीच ठहराया।

१०

दरवाजे पर आकर सुमन सोचने लगी कि अब कहाँ जाऊँ। अपने घर के सिवा अब मेरा कहीं ठिकाना नहीं है। मुझे दूसरों की चिरौरी करने की जरूरत ही क्या? क्या मेरा घर नहीं था? क्या मैं इनके घर जन्म काटने आयी थी। दो-चार दिन में जब उनका क्रोध शान्त हो जाता, आप ही चली जाती। ओह! नारायण! क्रोध में बुद्धि कैसी भ्रष्ट हो जाती है। मुझे इनके घर में भूल कर भी न आना चाहिए था।

यह सोचते हुए सुमन आगे बढ़ी, पर थोड़ी ही दूर चलकर उसके विचारों ने फिर पलटा खाया। जब केवल रात को कई घण्टे की देर हो जाने से उन्हें इतना सन्देह हो गया तो अब मुझे पूरे चौबीस घण्टे हो चुके हैं। वह तो अब मुझे दूर ही से दुत्कार देंगे। यह दुत्कार क्यों सहूँ? मुझे कहीं रहने का स्थान चाहिए। खाने-भर को किसी-न-किसी तरह कमा लूँगी। बस चलकर एक मकान ठीक कर लूँ। भोली क्या मेरे साथ इतना भी सलूक न करेगी? वह मुझे अपने घर बार-बार बुलाती थी, क्या इतनी दया भी न करेगी?

अमोला चली जाऊँ तो कैसा हो? लेकिन वहाँ कौन अपना बैठा हुआ है। अम्माँ मर गई। शान्ता है। उसी का निर्वाह होना कठिन है, मुझे कौन पूछनेवाला है। मामी जीने न देंगी। छेद-छेदकर मार डालेंगी। चलूँ भोली से कहूँ, देखूँ क्या कहती है। कुछ न हुआ तो गंगा तो कहीं

नहीं गयी हैं ?

भोली के द्वार पर पहुँच कर सुमन ने सोचा, इसके यहाँ क्यों जाऊँ ? किसी पड़ोसिन के घर जाने से काम न चलेगा ? इतने में भोली ने उसे देखा और इशारे से ऊपर बुलाया। सुमन ऊपर चली गयी।

भोली ने पूछा, आज यह सन्दूकची लिये इधर कहाँ से आ रही थीं ?

सुमन—यह रामकहानी फिर कहूँगी, इस समय तुम मेरे ऊपर इतनी कृपा करो कि मेरे लिए कहीं अलग एक छोटा-सा मकान ठीक करा दो। मैं उसमें रहना चाहती हूँ।

भोली ने विस्मित होकर कहा, यह क्यों, क्या शौहर से लड़ाई हो गयी है ?

सुमन—नहीं, लड़ाई की क्या बात है ? अपना जी ही तो है।

भोली—तुम लाख छिपाओ मैं ताड़ गयी सुमन, बुरा न मानो तो कह दूँ। मैं जानती थी कि कभी-न-कभी तुमसे खटकेगी जरूर। तुम्हें तो किसी बड़े घर की रानी बनना चाहिए था। मगर पाले पड़ी एक खूसट के, जो तुम्हारा पैर धोने लायक भी नहीं। तुम्हीं हो कि यों निबाह रही हो, दूसरी होती तो ऐसे मियाँ पर लात मार कर कभी चली गयी होती। तुमने शायद अच्छी तालीम नहीं पायी।

सुमन—मैं दो साल तक एक ईसाई लेडी से पढ़ चुकी हूँ।

भोली—दो-तीन साल और पढ़ लेतीं तो फिर मालूम हो जाता कि हमारी जिन्दगी का क्या मकसद है। हम कोई भेड़-बकरी तो हैं नहीं कि मा-बाप जिसके गले मढ़ दें बस उसी की हो रहें। अगर अल्लाह को मंजूर होता कि तुम मुसीबतें झेलो तो तुम्हें परियों की सूरत क्यों देता ? यहीं औरत को इतना जलील समझते हैं, नहीं तो और सब मुल्कों में औरतें आजाद हैं, अपनी पसन्द से शादी करती हैं और जब उससे रास नहीं आती तो तिलाक दे देती हैं।

सुमन ने सोच कर कहा, क्या करूँ बहन, लोकलाज का डर है, नहीं तो आराम से रहना किसे बुरा मालूम होता है ?

भोली—यह सब उसी जिहालत का नतीजा है। मेरे मा-बाप ने भी मुझे एक बूढ़े मियाँ के गले बाँध दिया था। उसके यहाँ दौलत थी और सब तरह का आराम था, लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफरत थी। मैंने किसी तरह छः महीने तो काटे, आखिर निकल खड़ी हुई। जिन्दगी जैसी निआमत रो-रोकर दिन काटने के लिए नहीं दी गयी है। पहले मुझे भी डर लगता था कि बड़ी बदनामी होगी, लेकिन घर से निकलने की देर थी, फिर तो मेरा वह रंग जमा कि अच्छे-अच्छे खुशामदें करने लगे। गाना मैंने घर पर ही सीखा था, कुछ और सीख लिया, बस सारे शहर में धूम मच गयी। आज यहाँ कौन रईस, कौन महाजन, कौन मौलवी, कौन पंडित ऐसा है जो मेरे तलुवे सहलाने में अपनी इज्जत न समझे? मन्दिरों में, ठाकुरद्वारे में मेरे मुजरे होते हैं। लोग मिन्नतें करके ले जाते हैं। इसे मैं अपनी बेइज्जती कैसे समझूँ?

सुमन—भला यह गाना कितने दिन में आ जायगा?

भोली—तुम्हें छः महीने मे आ जायगा। यहाँ गाने को कौन पूछता है। दो-चार ठुमरियाँ और कुछ थियेटर के गाने आ जायँ और बस फिर तुम्हीं तुम हो। यहाँ तो अच्छी सूरत और मजेदार बातें चाहिए, सो खुदा ने यह दोनों बातें तुम में कूट-कूट कर भर दी हैं। तुम एक बार इस लोहे की जंजीर को तोड़ दो, फिर देखो लोग कैसे दीवानों की तरह दौड़ते हैं।

सुमन ने चिन्तित भाव से कहा, यही बुरा मालूम होता है कि····

भोली—हाँ-हाँ कहो, यही कहना चाहती हो न कि ऐरे-गैरे सब से बेशरमी करनी पड़ती है। मगर ऐरे-गैरों के आने की हिम्मत ही नहीं होती। यहाँ तो सिर्फ रईस लोग आते हैं। बस, उन्हें फँसाये रखना चाहिए। अगर शरीफ है तब तो तबीयत आप-ही-आप उससे मिल जाती है, लेकिन अगर उससे अपनी तबीयत न मिले तो उसे बातों से लगाये रहो, जहाँ तक उसे नोचते-खसोटते बने, नोचो-खसोटो। आखिर को वह परेशान होकर खुद ही चला जायगा, उसके दूसरे भाई और आ फँसेंगे।

सुमन ने मुस्कराकर कहा—तुम मेरे लिए एक मकान तो ठीक

कर दो ।

भोली ने ताड़ लिया कि मछली चारा कुतरने लगी, अब शिस्त को कड़ा करने की जरूरत है । बोली, तुम्हारे लिए यही घर हाजिर है । आराम से रहो ।

सुमन—तुम्हारे साथ न रहूँगी ।

भोली—बदनाम हो जाओगी, क्यों ?

सुमन—अब मैं तुमसे क्या कहूँ ?

अधर्म और दुराचार से मनुष्य को जो स्वाभाविक घृणा होती है वह उसके हृदय को डावाँडोल कर रही थी ?

भोली ने कहा, तो कितने किराये तक का मकान चाहती हो ?

सुमन—यही दो-तीन रुपये ।

भोली—और करोगी क्या ?

सुमन—सिलाई का काम कर सकती हूँ ।

भोली—और अकेली हो रहोगी ?

सुमन—हाँ, और कौन है ?

भोली—कैसी बच्चों की-सी बातें कर रही हो । अरी पगली, आँखों से देखकर अन्धी बनती है । भला अकेले घर में एक दिन भी तेरा निबाह होगा ? दिन-दहाड़े आबरू लुट जायगी । इससे तो हजार दर्जे यही अच्छा है कि अपने शौहर ही के पास चली जाओ ।

सुमन—उसकी तो सूरत देखने को जी नहीं चाहता । अभी परसों वकील साहब के यहाँ तुम्हारा मुजरा हुआ था । उनकी स्त्री मुझसे प्रेम रखती हैं । उन्होंने मुझे मुजरा देखने को बुलाया और १२-१ बजे तक मुझे आने न दिया । बस, इतनी-सी बात पर वह इतने बिगड़े कि जो कुछ मुँह से आया बकते रहे । यहाँ तक कि वकील साहब से पाप भी लगा दिया और घर से निकाल दिया । वकील साहब के घर गई कि दस-पाँच दिन रहूँगी फिर जैसा होगा देखा जायगा, पर इस निर्दयी ने वकील साहब को बदनाम कर डाला । उन्होंने मुझे कहला भेजा कि यहाँ से चली जाओ ।

बहन, और सब दुःख था, पर यह सन्तोष था कि नारायण इज्जत से निबाहे जाते हैं। पर कलंक की कालिख मुँह में लग गयी। अब चाहे सिर पर जो कुछ पड़े मगर उस घर में न जाऊँगा।

यह कहते-कहते सुमन की आँखें भर आयीं। भोली ने दिलासा देकर कहा, अच्छा, पहले हाथ-मुँह तो धो डालो, कुछ नाश्ता कर लो, फिर सलाह होगी। मालूम होता है कि तुम्हें रात भर नींद नहीं आयी।

सुमन—यहाँ पानी मिल जायगा?

भोली ने मुस्कुरा कर कहा, सब इन्तजाम हो जायगा। मेरा कहार हिन्दू है।

भोली की बूढ़ी मामा सुमन को गुसलखाने में ले गयी। वहाँ उसने साबुन से स्नान किया। तब मामा ने उसके बाल गूँथे। एक नई रेशमी साड़ी पहिनने के लिए ले आयी। सुमन जब ऊपर आयी और भोली ने उसे देखा तो मुस्कुराकर बोली, जरा जाकर आइने में मुँह देख लो।

सुमन शीशे के सामने गयी। उसे मालूम हुआ कि सौन्दर्य की मूर्ति सामने खड़ी है। सुमन अपने को कभी इतना सुन्दर न समझती थी। लज्जायुक्त अभिमान से मुख-कमल खिल उठा और आँखों में नशा छा गया। वह एक कोच पर लेट गयी।

थोड़ी देर में कहार मिठाइयाँ लाया। सुमन ने जलपान किया, पान खाया और फिर आइने के सामने खड़ी हो गयी। उसने अपने मन में कहा, यह सुख छोड़कर उस अँधेरी कोठरी में क्यों रहूँ?

भोली ने पूछा, गजाधर शायद मुझसे तुम्हारे बारे में कुछ पूछें तो क्या कह दूँगी?

सुमन ने कहा, कहला देना कि यहाँ नहीं है।

भोली का मनोरथ पूरा हो गया। उसे निश्चय हो गया कि सेठ बलभद्रदास जो अब तक मुझसे कन्नी काटते फिरते थे इस लावण्यमयी सुन्दरी पर भ्रमर की भाँति मँडरायेंगे!

११

पद्मसिंह के एक बड़े भाई मदनसिंह थे। वह घर का कामकाज देखते थे। थोड़ी-सी जमींदारी थी, कुछ लेन-देन करते थे। उनके एक ही लड़का था, जिसका नाम सदनसिंह था। स्त्री का नाम भामा था।

सदन बाल्यकाल में ढीठ, हठी और लड़ाका था। वयस्क होने पर वह आलसी, क्रोधी और बड़ा उद्दंड हो गया। पद्मसिंह ने कितनी ही बार अनुरोध किया कि इसे मेरे साथ जाने दीजिए, मैं इनका नाम किसी अँग्रेजी मदरसे में लिखा दूँगा, किन्तु मा-बाप ने कभी स्वीकार नहीं किया।

सदन अपने चाचा के साथ जाने के लिए बहुत उत्सुक रहता था। उनके साबुन, तौलिये, जूते, स्लीपर, घड़ी और कालर को देखकर उसका जी बहुत ललचाता। घर में सब कुछ था; पर यह फैशन की सामग्रियाँ कहाँ? उसका जी चाहता, मैं भी चाचा की तरह कपड़ों से सुसज्जित होकर टमटम पर हवा खाने निकलूँ। वह अपने चचा का बड़ा सम्मान करता था। उनकी कोई बात न टालता। मा-बाप की बातों पर कान न धरता, प्रायः सम्मुख विवाद करता। लेकिन चचा के सामने वह शराफत का पुतला बन जाता था। उनके ठाट-बाट ने उसे वशीभूत कर लिया था। पद्मसिंह घर आते तो सदन के लिए अच्छे-अच्छे कपड़े और जूते लाते। सदन इन चीजों पर लहालोट हो जाता।

होली के दिन पद्मसिंह अवश्य घर आया करते थे। अब की भी एक सप्ताह पहले उनका पत्र आया था कि हम आयेंगे। सदन रेशमी अचकन और वारनिशदार जूतों के स्वप्न देख रहा था। होली के एक दिन पहले मदनसिंह ने स्टेशन पर पालकी भेजी। प्रातःकाल भी, सन्ध्या भी। दूसरे दिन भी दोनों जून सवारी गयी, लेकिन वहाँ तो भोली बाई के मुजरे की ठहर चुकी थी, घर कौन आता। यह पहली ही होली थी कि पद्मसिंह घर नहीं आये। भामा रोने लगीं। मदनसिंह भी मन मारे बैठे थे। सदन के नैराश्य की तो कोई सीमा ही न थी, न कपड़े, न लत्ते, होली कैसे खेले? सारे दिन नंगे बदन मुँह लटकाये बैठा रहा। सन्ध्या को जाकर मा से

बोला, मैं चचा के पास जाऊँगा।

भामा—वहाँ तेरा कौन बैठा हुआ है?

सदन—क्यों, चचा नहीं हैं?

भामा—अब वह चचा नहीं हैं। वहाँ कोई तुम्हारी बात भी न पूछेगा।

सदन—मैं तो जाऊँगा।

भामा—एक बार कह दिया मुझे दिक मत करो, वहाँ जाने को मैं न कहूँगी।

ज्यों-ज्यों भामा मना करती थी सदन जिद पकड़ता था। अन्त में वह झुँझलाकर वहाँ से उठ गयी। सदन भी बाहर चला आया। जिद सामने की चोट नहीं सह सकती; उस पर बगली वार करना चाहिए।

सदन ने मन में निश्चय किया कि चचा के पास भाग चलना चाहिए। यह निश्चय करके वह अवसर ढूँढ़ने लगा। रात को जब सब लोग सो गये तो चुपके से उठकर घर से निकल खड़ा हुआ।

* * *

सुमन के चले जाने के बाद पद्मसिंह के हृदय में एक आत्मग्लानि उत्पन्न हुई। मैंने अच्छा नहीं किया। न मालूम वह कहाँ गयी। मुझसे बड़ी भूल हुई, अब इस मर्यादा-पालन से काम न चलेगा। वह डूब रही होगी, उसे बचाना चाहिए।

वह गजाधर के घर जाने के लिए कपड़े पहनने लगे। तैयार होकर घर से निकले। किन्तु यह संशय लगा हुआ था कि मालूम नहीं, गजाधर अपने मन में क्या समझे। कहीं उलझ पड़ा तो मुश्किल होगी। लौट पड़े और कपड़े उतार दिये।

जब दस बजे भोजन करने गये तो सुभद्रा ने तेवरियाँ बदलकर कहा, यह आज सवेरे सुमन के पीछे क्यों पड़ गये? निकालना ही था तो एक ढंग से निकालते। उस बुड्ढे जीतन को भेज दिया; उसने उल्टी-सीधी जो कुछ मुँह से आया कहा। बेचारी ने जीभ तक नहीं हिलाई, चुपचाप चली गयी। मारे लाज के मैंने सिर नहीं उठाया। मुझसे आकर कहते, मैं समझा देती।

कोई गँवारिन तो थी नहीं, अपना सुभीता करके चली जाती। यह सब तो कुछ न हुआ बस नादिरशाही हुक्म दे दिया। बदनामी का इतना डर! वह अगर लौटकर घर न गयी तो क्या कुछ कम बदनामी होगी? कौन जाने कहाँ जायगी, इसका दोष किस पर होगा?

सुभद्रा भरी बैठी थी, उबल पड़ी। पद्मसिंह अपना अपराध स्वीकार करनेवाले अपराधी की भाँति सिर झुकाये सुनते रहे। जो विचार उनके मन में थे, वे सुभद्रा की जीभ पर थे। चुपचाप भोजन किया और कचहरी चले गये। आज उस जलसे के बाद तीसरा दिन था। पहले शर्माजी को कचहरी के लोग एक चरित्रवान् मनुष्य समझते थे और उनका आदर करते थे। किन्तु इधर तीन-चार दिनों से जब अन्य वकीलों को अवकाश मिलता तो वह शर्माजी के पास आकर बैठ जाते और उनसे राग-रंग की चर्चा करने लगते। शर्माजी को इन चर्चाओं से घृणा होती। वह सोचते, क्या मैं वेश्याओं का दलाल हूँ जो मुझसे लोग इस प्रकार बातें करते हैं?

कचहरी के कर्मचारियों के व्यवहार में भी शर्माजी को एक विशेष अन्तर दिखाई देता था। उन्हें जब छुट्टी मिलती सिगरेट पीते हुए आकर शर्माजी के पास बैठ जाते और इसी प्रकार चर्चा करने लगते। यहाँ तक कि शर्माजी किसी बहाने से उठ जाते और उनसे पीछा छुड़ाने के लिए घण्टों किसी वृक्ष के नीचे छिपकर बैठे रहते।

आज भी वह कचहरी में ज्यादा न ठहर सके। इन्हीं घृणित चर्चाओं से उकता कर दो ही बजे लौट आये। ज्योंहि द्वार पर पहुँचे सदन ने आकर उनके चरण स्पर्श किये।

शर्माजी आश्चर्य से बोले—अरे सदन, तुम कब आये?

सदन—इसी गाड़ी से आया हूँ।

पद्मसिंह—घर पर तो सब कुशल है?

सदन—जी हाँ, सब लोग अच्छी तरह हैं।

पद्मसिंह—मैं तो अबकी होली में न जा सका, भाभी कुछ कहती थीं?

सदन—आपकी राह लोग दो दिन तक देखते रहे। दादा दो दिन

पालकी लेकर गये। अम्माँ रोती थीं, मेरा जी न लगता था, रात को उठ-कर चला आया।

पद्मसिंह—तो क्या घर पर पूछा नहीं?

सदन—पूछा क्यों नहीं, लेकिन आप तो उन लोगों को जानते हैं, अम्माँ राजी न हुईं।

शर्माजी ने मदनसिंह के नाम तार दे दिया, घबराइए मत। सदन यहाँ आ गया है, उसका नाम किसी स्कूल में लिखा दिया जायगा।

सन्ध्या हो गयी। शर्माजी सदन के साथ सैर को निकले। उनका चित्त चिन्ताग्रस्त हो रहा था, आँखें इधर-उधर सुमन को खोजती फिरती थीं। मन मे निश्चय कर लिया था कि अबकी वह मिल जाय तो कदापि न जाने दूँ चाहे कितनी ही बदनामी हो। यही न होगा कि उसका पति मुझ पर दावा करेगा। सुमन की इच्छा होगी चली जायगी। चलूँ गजाधर के पास, सम्भव है, वह घर आ गयी हो। गजाधर के द्वार पर पहुँचे। वह अभी दूकान से लौटा था। आज उसे दोपहर ही को खबर मिली थी कि शर्माजी ने सुमन को घर से निकाल दिया। तिसपर भी उसको सन्देह हो रहा था कि कहीं इस बहाने से उसे छिपा न दिया हो। लेकिन इस समय शर्माजी को अपने द्वार पर देखकर वह उनका सत्कार करने के लिए विवश हो गया। खाट पर से उठकर उन्हें नमस्कार किया। शर्माजी रुक गये और निश्चेष्ट भाव से बोले, क्यों पांडेजी, महराजिन घर गयी न?

गजाधर का सन्देह कुछ हटा, बोला, जी नहीं, जब से आपके घर से गई तब से उसका कुछ पता नहीं।

शर्मा—लेकिन आपने कुछ इधर-उधर पूछताछ नहीं की? आप उसे घर लाना चाहते तो मेरे यहाँ से ला सकते थे। इसके बदले आपने मुझको बदनाम करना शुरू किया। तो भाई, अपनी बदनामी कौन चाहता है? मैंने उसे अपने से अलग कर दिया। बताओ, और मैं क्या करता? अपनी इज्जत तो सभी को प्यारी होती है। इस मुआमले में मेरा इतना ही अप-राध था कि वहाँ होलीवाले जल्से में मेरे यहाँ रही। यदि मुझे मालूम

होता कि जल्से का यह परिणाम होगा तो या तो जलसा ही न करता या तो उसे अपने घर आने न देता। इतने ही अपराध के लिए आपने सारे शहर में मेरा नाम बेंच डाला।

गजाधर के मन का भ्रम दूर हो गया। रोते हुए बोला—महाशय, इस अपराध के लिए मुझे जो सजा चाहे दें, मैं गँवार मूर्ख ठहरा, जिसने जो बात सुझा दी मान गया। वह जो बैंकघर के बाबू हैं, भला-सा नाम है—विट्ठलदास हैं, मैं उन्हीं के चकमे में आ गया। मैं उन्हें भला आदमी समझता था। सारे शहर में दूसरों के साथ भलाई करने के लिए उपदेश करते-फिरते हैं। ऐसा धर्मात्मा आदमी कोई बात कहता है तो उस पर विश्वास आ ही जाता है। मालूम नहीं उन्हें आपसे क्या बैर था, और मेरा तो उन्होंने घर ही बिगाड़ दिया।

विट्ठलदास उनके परम मित्र थे। शर्माजी उनकी इज्जत करते थे। आपस में बहुधा मतभेद होने पर भी वह उनके पवित्र उद्देश्यों का आदर करते थे। ऐसा व्यक्ति जानबूझ कर जब किसी पर कीचड़ फेंके तो इसके सिवा और क्या कहा जा सकता है कि शुद्ध विचार रखते हुए भी वह क्रूर है। शर्माजी समझ गये कि होली के जल्से के प्रस्ताव से नाराज होकर विट्ठलदास ने यह आग लगाई। केवल मेरा अपमान करने के लिए, जनता की दृष्टि में गिराने के लिए मुझ पर यह दोषारोपण किया है। क्रोध से काँपते हुए बोले, तुम उनके मुँह पर कहोगे?

गजाधर—हाँ, साँच को क्या आँच! चलिए, अभी मैं उनके सामने कह दूँ। मजाल है कि वह इन्कार कर जायँ।

क्रोध के आवेग में शर्माजी चलने को प्रस्तुत हो गये। किन्तु इतनी देर में आँधी का वेग कुछ कम हो चला था, सँभल गये। इस समय वहाँ जाने से बात बढ़ जायगी, यह सोचकर गजाधर से बोले, अच्छी बात है, जब बुलाऊँ तो चले आना। मगर निश्चिन्त मत बैठो। महाराजिन की खोज में रहो, समय बुरा है। जो खर्च की जरूरत हो, वह मुझसे लो।

यह कहकर शर्माजी घर चले आये। विट्ठलदास की गुप्त छुरी के

आघात ने उन्हें निस्तेज बना दिया था। वह यही समझते थे कि विट्ठलदास ने केवल द्वेष के कारण यह षड्यन्त्र रचा है। यह विचार शर्माजी के ध्यान में भी न आया कि सम्भव है, उन्होंने जो कुछ कहा हो वह शुभ चिन्ताओं से प्रेरित होकर कहा हो और उस पर विश्वास करते हों।

.१२

दूसरे दिन पद्मसिंह सदन को साथ लेकर किसी स्कूल में दाखिल कराने चले। किन्तु जहाँ गये साफ जवाब मिला 'स्थान नहीं है।'

शर्माजी ने विवश होकर निश्चय किया कि मैं स्वयं पढ़ाऊँगा। किन्तु एक ही सप्ताह में हिम्मत हार बैठे। उन्हें विश्वास हो गया कि इस काम की क्षमता मुझमें नहीं है।

मुहल्ले में एक मास्टर साहब रहते थे। उन्होंने २०) मासिक पर सदन को पढ़ाना स्वीकार किया। अब यह चिन्ता हुई कि यह रुपये आयें कहाँ से ? शर्माजी फैशनेबुल मनुष्य थे, खर्च का पल्ला सदा दबा ही रहता था। फैशन का बोझ अखरता तो अवश्य था, किन्तु उसके सामने कन्धा न डालते थे। बहुत देर तक एकान्त में बैठे सोचते रहे, किन्तु बुद्धि ने कुछ काम न किया, तब सुभद्रा के पास जाकर बोले, मास्टर २०) पर राजी है।

सुभद्रा—तो क्या मास्टर ही न मिलते थे ? मास्टर तो एक नहीं सौ हैं, रुपए कहाँ हैं ?

पद्म—तुम्हीं कोई उपाय निकालो।

सुभद्रा—आय व्यय तुमसे छिपा नहीं है, मैं और कौन सी बचत निकाल दूँगी ? दूध-घी की तुम्हारे यहाँ नदी नहीं बहती. मिठाई-मुरब्बे में कभी फफूँदी नहीं लगी, कहारिन के बिना काम चलने ही का नहीं, महाराजिन का होना जरूरी है। और किस खर्चे में कमी करने को कहते हो ?

पद्म—दूध ही बन्द कर दो ?

सुभद्रा—हाँ, बन्द कर दो। मगर तुम न पीओगे, सदन के लिए तो लेना ही होगा।

शर्माजी—क्यों, रोशनी और पंखे के खर्च में कुछ किफायत हो सकती है ?

सुभद्रा—हाँ, हो सकती है। रोशनी की क्या आवश्यकता है, साँझ ही से बिछावन पर पड़ रहें। यदि कोई मिलने-मिलाने आयेगा तो आप ही चिल्ला कर चला जायगा, या घूमने निकल गये और नौ बजे लौट कर आये, और पंखा तो हाथ से भी झला जा सकता है। क्या जब बिजली नहीं थी तों लोग गर्मी के मारे बावले हो जाते थे?

पद्म—घोड़े के रातिब में कमी कर दूँ!

सुभद्रा—हाँ, यह दूर की सूझी। घोड़े को रातिब दिया ही क्यों जाय, घास काफी है। यही न होगा कि कूल्हे पर हड्डियाँ निकल आयेंगी। किसी तरह मर-जीकर कचहरी तक ले ही जायगा, यह तो कोई नहीं कहेगा कि वकील साहब के पास सवारी नहीं है।

पद्म—लड़कियों की पाठशाला को २) मासिक चन्दा देता हूँ; २) क्लब का चन्दा है, ३) मासिक अनाथालय को देता हूँ। ये सब चन्दे बन्द कर दूँ तो कैसा हो?

सुभद्रा—बहुत अच्छा होगा। संसार की रीति है कि पहले अपने घर में दिया जलाकर मस्जिद में जलाते हैं।

शर्माजी सुभद्रा की इन व्यंगपूर्ण बातों को सुन-सुनकर मन में झुँझला रहे थे, पर धीरज के साथ बोले; इस तरह कोई १५) मासिक तो मैं दे दूँगा, शेष ५) रुपए का बोझ तुम्हारे ऊपर है। मैं हिसाब-किताब नहीं जानता, किसी तरह संख्या पूरी करो।

सुभद्रा—हाँ, हो जायगा, कुछ कठिन नहीं है। भोजन एक ही समय बने, दोनों समय बनने की क्या जरूरत है। संसार में करोड़ों मनुष्य एक ही समय खाते हैं, किन्तु बीमार या दुबले नहीं होते।

शर्माजी अधीर हो गये। घर की लड़ाई से उनका हृदय काँपता था, पर यह चोट न सही गयी। बोले, तुम क्या चाहती हो कि सदन के लिए मास्टर न रखा जाय और वह यों ही अपना जीवन नष्ट करे? चाहिए तो यह था कि तुम मेरी सहायता करतीं, उल्टे और जी जला रही हो। सदन मेरे उसी भाई का लड़का है जो अपने सिर पर आटे-दाल की गठरी लाद-

कर मुझे स्कूल में दाखिल कराने आये थे। मुझे वह दिन भूले नहीं हैं। उनके उस प्रेम का स्मरण करता हूँ तो जी चाहता है कि उनके चरणों पर गिरकर घण्टों रोऊँ। उनके उपकारों और भलाइयों का इतना भारी बोझ मेरी गर्दन पर है कि मैं इस जीवन में उससे मुक्त नहीं हो सकता। सदन के लिए मैं प्रत्येक कष्ट सहने को तैयार हूँ। उसके लिए यदि मुझे पैदल कचहरी जाना पड़े, उपवास करना पड़े, अपने हाथों से उसके जूते साफ करने पड़ें तब भी मुझे इन्कार न होगा; नहीं तो मुझ जैसा कृतघ्न मनुष्य संसार में न होगा।

ग्लानि से सुभद्रा का मुखकमल कुम्हला गया। यद्यपि शर्माजी ने वे बातें सच्चे दिल से कही थीं, पर उसने समझा कि यह मुझे लज्जित करने के निमित्त कही गई हैं। सिर नीचा करके बोली, तो मैंने यह कब कहा कि सदन के लिए मास्टर न रखा जाय? जो काम करना ही है उसे कर डालिए। जो कुछ होगा देखा जायगा। मुझसे जो कुछ करने को कहिए वह करूँ। आपने अब तक कभी इस विषय पर जोर नहीं दिया था; इसलिए मुझे भ्रम हुआ कि यह कोई आवश्यक खर्च नहीं है। आपको पहले ही दिन से मास्टर का प्रबन्ध करना चाहिए था। इतने आगे पीछे का क्या काम था? अब तक तो यह थोड़ा-बहुत पढ़ भी चुका होता।

सुभद्रा को अपने प्रतिवाद पर खेद हुआ। उसने एक पान बनाकर शर्माजी को दिया। यह मानो सन्धिपत्र था। शर्माजी ने पान ले लिया; सन्धि स्वीकृत हो गयी।

जब वह चलने लगे तो सुभद्रा ने पूछा, कुछ सुमन का पता चला?

शर्माजी— कुछ भी नहीं, न जाने कहाँ गायब हो गयी, गजाधर भी नहीं दिखायी दिया। सुनता हूँ, घर-बार छोड़कर किसी तरफ निकल गया है।

दूसरे दिन से मास्टर साहब सदन को पढ़ाने लगे। नौ बजे वह पढ़ाकर चले जाते तब सदन स्नान-भोजन करके सोता। अकेले उसका जी बहुत घबराता, कोई संगी न साथी। न कोई हँसी न दिल्लगी, कैसे जी लगे। हाँ, प्रातःकाल थोड़ी-सी कसरत कर लिया करता था। इसका उसे

व्यसन था। अपने गाँव में उसने एक छोटा-सा अखाड़ा बनवा रखा था। यहाँ अखाड़ा तो न था, कमरे ही में डंड कर लेता। शाम को अपना सूट पहनकर गर्व के साथ सैर करने निकलता। वह कभी दालमंडी की तरफ जाता, कभी चौक की तरफ। उसका यौवनकाल था, जब बनाव-सिंगार का भूत सिर पर सवार रहता है। वह अत्यन्त रूपवान, सुगठित, बलिष्ट युवक था। देहात में रहा, न पढ़ना, न लिखना, न मास्टर का भय, न परीक्षा की चिन्ता, सेरों दूध पीता था। घर की भैंसें थीं, घी के लोंदे-के-लोंदे उठाकर खा जाता। उस पर कसरत का शौक। शरीर बहुत सुडौल निकल आया था। छाती चौड़ी, गरदन तनी हुई, ऐसा जान पड़ता था, मानो देह में ईंगुर भरा हुआ है। उसके चेहरे पर वह गम्भीरता और कोमलता न थी जो शिक्षा और ज्ञान से उत्पन्न होती है। उसके मुख से वीरता और उद्दण्डता झलकती थी। आँखें मतवाली, सतेज और चञ्चल थीं, वह बाग का कलमी पौधा नहीं, बन का सुदृढ़ वृक्ष था। उसके रंग-रूप, ठाट-बाट पर बूढ़े-जवान सब की आँखें उठ जातीं। युवक उसे ईर्ष्या से देखते, बूढ़े स्नेह से। लोग राह चलते-चलते उसे एक आँख देखने के लिए ठिठक जाते। दूकानदार समझते कि यह किसी रईस का लड़का है।

इन दुकानों के ऊपर सौंदर्य का बाजार था। सदन को देखते ही उस बाजार में एक हलचल मच जाती। वेश्याएँ छज्जों पर आ-आकर खड़ी हो जातीं और प्रेमकटाक्ष के बाण उस पर चलातीं। देखें यह बहका हुआ कबूतर किस छतरी पर उतरता है, यह सोने की चिड़िया किस जाल में फँसती है। सदन में वह विवेक तो था नहीं जो सदाचरण की रक्षा करता है। उसमें वह आत्म-सम्मान भी नहीं था जो आँखों को ऊपर नहीं उठाने देता। सदन की आँखें उन्हीं रमणियों की ओर लगी रहतीं। यौवन के पूर्वकाल में हम अपनी कुवासनाओं के प्रदर्शन पर गर्व करते हैं, उत्तर-काल में अपने सद्गुणों के प्रदर्शन पर। सदन अपने को रसिया दिखाना चाहता था, प्रेम से अधिक बदनामी का आकांक्षी था। इस समय यदि उसका कोई अभिन्न मित्र होता तो सदन उससे अपने कल्पित दुष्प्रेम की

विस्तृत कथाएँ वर्णन करता।

धीरे-धीरे सदन के चित्त की चञ्चलता यहाँ तक बढ़ी कि पढ़ना-लिखना सब छूट गया। मास्टर आते और पढ़ाकर चले जाते। लेकिन सदन को उनका आना बहुत बुरा मालूम होता। उसका मन हर घड़ी बाजार की ओर लगा रहता, वही दृश्य आँखों में फिरा करते, रमणियों के हाव-भाव और मृदु मुस्कान के स्मरण में मग्न रहता। इस भाँति दिन काटने के बाद ज्योंही शाम होती वह बनठनकर दालमण्डी की ओर निकल जाता। अन्त में मन की इस कुप्रवृत्ति का वही फल हुआ जो सदैव हुआ करता है। तीन-ही-चार मास में उसका संकोच उड़ गया।

१३

प्राचीन ऋषियों ने इन्द्रियों का दमन करने के दो साधन बताये हैं—एक राग, दूसरा वैराग्य। पहला साधन अत्यन्त कठिन और दुस्साध्य है। लेकिन हमारे नागरिक समाज ने अपने मुख्य स्थानों पर मीनाबाजार सजा कर इसी कठिन मार्ग को ग्रहण किया है। उसने गृहस्थी को कीचड़ का कमल बनाना चाहा है।

जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न वासनाओं का प्राबल्य रहता है। बचपन मिठाइयों का समय है। बुढ़ापा लोभ का, यौवन प्रेम और लालसाओं का समय है। इस अवस्था में मीनाबाजार की सैर मन में विप्लव मचा देती है। जो सुदृढ़ हैं, लज्जाशील या भावशून्य—वह सँभल जाते हैं। शेष फिसलते हैं और गिर पड़ते हैं।

शराब की दूकानों को हम बस्ती से दूर रखने का यत्न करते हैं, जुए-खाने से भी हम घृणा करते हैं, लेकिन वेश्याओं की दूकानों को हम सुसज्जित कोठों पर, चौक बाजारों में ठाट से सजाते हैं। यह पापोत्तेजना नहीं तो और क्या है?

आवश्यक है कि इन विषभरी नागिनों को आबादी से दूर किसी पृथक् स्थान में रखा जाय। तब उन निन्द्य स्थानों की ओर सैर करने को जाते हुए हमें संकोच होगा।

कई महीने बीत गये। वर्षाकाल आ पहुँचा। मेलों-ठेलों की धूम मच गयी। सदन बाँकी सजधज बनाये चारों ओर घूमा करता। उसके हृदय में प्रेम लालसा की एक आग-सी जलती रहती थी। अब वह इतना निश्शंक हो गया था कि दालमण्डी में तमोलियों की दूकानों पर पान खाने बैठ जाता था। वह समझते, यह कोई बिगड़ा हुआ रईसजादा है। उससे रूप-हाट की नयी-नयी घटनाओं का वर्णन करते। सदन इन बातों को चाव से सुनता। अब तक वह कुछ रसज्ञ हो गया था। पहले जो गजलें निरर्थक मालूम होती थीं उन्हें सुनकर अब उसके हृदय का एक-एक तार सितार की भाँति गूँजने लगता था। संगीत के मधुर स्वर उसे उन्मत्त कर देते, बड़ी कठिनता से वह अपने को कोठों पर चढ़ने से रोक सकता।

पद्मसिंह सदन को फैशनेबुल तो बनाना चाहते थे, लेकिन उसका बाँकापन उनकी आँखों में खटकता था। उन्होंने दो-तीन बार सदन को दालमण्डी में खड़े देखा। उन्हें देखते ही सदन चट एक दूकान पर बैठ जाता और कुछ-न-कुछ खरीदने लगता। शर्माजी उसे देखते और सिर नवाये हुए निकल जाते। बहुत चाहते कि सदन को इधर आने से रोकें, किन्तु लज्जावश कुछ न कह सकते।

एक दिन शर्माजी सैर करने जा रहे थे कि रास्ते में दो सज्जनों से भेंट हो गयी। यह दोनों म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर थे। एक का नाम था अबुलवफा, दूसरे का अब्दुललतीफ। शर्माजी को देखते ही रुक गये।

अबुलवफा बोले, आइए जनाब! आप ही का जिक्र हो रहा था। आपसे एक खास बात करनी है, हम तो आपके दौलतखाने पर हाजिर होनेवाले थे।

शर्माजी—फरमाइए।

अबुलवफा—आपकी महराजिन 'सुमनबाई' हो गयीं।

अब्दुललतीफ—वल्लाह, हम आपकी नजर इन्तखाब के कायल हैं। अभी तीन-चार दिन से ही उसने दालमंडी मे बैठना शुरू किया है, लेकिन इतने में ही उसने सबका रंग मात कर दिया। कल उसका गाना सुना तो दंग रह गये। इस शहर में किसी के गले में वह लोच और नजाकत नहीं है।

अबुलवफा—अजी जहाँ जाता हूँ, उसी की चर्चा सुनता हूँ। ऐसे लाले बेबहा को गूदड़ से निकालना आप ही जैसे हुस्नशिनास का काम है। चलिए आज आप भी पुरानी मुलाकात ताजी कर आइए। आपके तुफैल में हम भी फैज पा जायँगे।

पण्डितजी इस समाचार को सुनकर खेद, लज्जा और ग्लानि के बोझ से इतने दब गये कि सिर भी न उठा सके। जिस बात का उन्हें भय था वह अन्त मे पूरी होकर ही रही। उनका जी चाहता था कि कहीं एकान्त में बैठ कर इस दुर्घटना की आलोचना करें और निश्चय करें कि इसका कितना भार उनके सिर पर है। कुछ खिन्न होकर बोले, मुझे क्षमा कीजिए। मैं न चल सकूँगा।

अबुलवफा—क्यों ?

शर्माजी—इसीलिए कि एक भले घर की स्त्री को इस दशा में देखना मैं सहन नहीं कर सकता। आप लोग मन में चाहे जो कुछ समझें, किन्तु उसका मुझसे केवल इतना ही संबंध है कि वह मेरी स्त्री के पास आती-जाती थी।

दोनों ने बहुत आग्रह किया किन्तु शर्माजी राजी न हुए। उन्हें छोड़ कर वह घर की तरफ चले। इस समय उनके मन में बारम्बार यह प्रश्न उठ रहा था कि इस दुर्घटना का उत्तरदाता कौन है। उनकी विवेचना-शक्ति पिछली बातों की आलोचना कर रही थी। यदि मैंने उसे घर से निकाल न दिया होता तो इस भाँति उसका पतन न होता। मेरे यहाँ से निकलकर उसे और कोई ठिकाना न रहा और क्रोध और कुछ नैराश्य की अवस्था में यह भीषण अभिनय करने पर बाध्य हुई। इसका सारा अपराध मेरे सिर है।

लेकिन गजाधर सुमन से इतना क्यों बिगड़ा! वह सुमन को मना लेता, बस झगड़ा तै हो जाता, पर ऐसा नहीं हुआ, केवल इसीलिए कि विट्ठलदास ने पहले ही से आग लगा दी थी। निस्सन्देह सारा अपराध उन्हीं का है। विट्ठलदास पर दोषारोपण करके शर्माजी को बहुत धैर्य हुआ।

इस धारणा ने पश्चात्ताप की वह आग ठण्डी की, जो महीनों से उनके हृदय में दहक रही थी। उन्हें विठ्ठलदास को अपमानित करने का एक मौका मिला। पर पहुँचते ही विठ्ठलदास को पत्र लिखने बैठ गये। कपड़े उतारने की भी सुध न रही।

बाबू विठ्ठलदास शहर की सभी सार्वजनिक संस्थाओं के प्राण थे। जाति-सेवा की धुन में अपने सुख और स्वार्थ को भूल गये थे। कहीं अनाथालय के लिए चन्दा जमा करते-फिरते हैं, कहीं दीन विद्यार्थियों की छात्रवृत्ति का प्रबन्ध करने में दत्तचित्त हैं। जब जाति पर कोई संकट आ पड़ता तो उनका देशप्रेम उमड़ पड़ता था। अपनी सारी सम्पत्ति देश पर अर्पण कर चुके थे, पर इसका तनिक भी अभिमान न था। उन्होंने उच्च शिक्षा नहीं पायी थी। वाक्शक्ति भी साधारण थी। उनके विचार में बहुधा प्रौढ़ता तथा दूरदर्शिता का अभाव होता था। वह विशेष नीति-कुशल, चतुर या बुद्धिमान न थे। पर उनमें देशानुराग का एक ऐसा गुण था जो उन्हें सारे नगर में सर्वसम्मान्य बनाये हुए था।

उन्होंने शर्माजी का पत्र पढ़ा तो एक थप्पड़-सा मुँह पर लगा। अपने एक परम मित्र को भ्रम में पड़कर कितना बदनाम किया, इसका भी उन्हें दुःख नहीं हुआ। वह बीती हुई बातों पर पछताना नहीं जानते थे। इस समय क्या करना चाहिए इसका निश्चय करना आवश्यक था और उन्होंने तुरन्त यह निश्चय कर लिया। कपड़े पहने और दालमंडी जा पहुँचे। सुमनबाई के मकान का पता लगाया और बेधड़क ऊपर चढ़ गये।

नौ बज गये थे। सुमन का मुजरा अभी समाप्त हुआ था। वह सोने जा रही थी। विठ्ठलदास को देखकर चौंक पड़ी; उन्हें उसने कई बार शर्माजी के मकान पर देखा। झिझककर खड़ी हो गयी, सिर झुका-कर बोली, महाशय आप इधर कैसे भूल पड़े?

विठ्ठलदास सावधानी से कालीन पर बैठकर बोले, भूल तो नहीं पड़ा, जान-बूझकर आया हूँ, पर जिस बात का किसी तरह विश्वास न आता था वही देख रहा हूँ। आज जब पद्मसिंह का पत्र मिला तो मैंने समझा कि

किसी ने उन्हें धोखा दिया है, पर अब अपनी आँखों को कैसे धोखा दूँ। जब हमारी पूज्य ब्राह्मण महिलाएँ ऐसे कलंकित मार्ग पर चलने लगीं तो हमारे अधःपतन का अब पारावार नहीं है। सुमन, तुमने हिन्दू जाति का सर नीचा कर दिया।

सुमन ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया, आप ऐसा समझते होंगे और तो कोई ऐसा नहीं समझता। अभी कई सज्जन यहाँ से मुजरा सुनकर गये हैं, सभी हिन्दू थे, लेकिन किसी का सिर नीचा नहीं मालूम होता था? वह मेरे यहाँ आने से बहुत प्रसन्न थे। जब हिन्दू जाति को खुद ही लाज नहीं है तो फिर हम जैसी अबलाएँ उसकी रक्षा कहाँ तक कर सकती हैं।

विट्ठलदास—सुमन, तुम सच कहती हो, बेशक हिन्दू जाति अधोगति को पहुँच गयी और अब तक वह कभी की नष्ट हो गयी होती, पर हिन्दू-स्त्रियों ही ने अभी तक उसकी मर्यादा की रक्षा की है। पर शोक है कि वही देवियाँ अब इस भाँति मर्यादा का त्याग करने लगीं। सुमन, मैं स्वीकार करता हूँ कि तुमको घर पर बहुत कष्ट था, माना कि तुम्हारा पति दरिद्र था, क्रोधी था, चरित्रहीन था, माना कि उसने तुम्हें अपने घर से निकाल दिया था, पर तुमने वह किया जो नीच जाति की कुलटाएँ किया करती हैं; पति से रूटकर मैके भागती हैं और मैके में निबाह न हुआ तो चकले की राह लेती हैं। सोचो तो कितने खेद की बात है कि जिस अवस्था में तुम्हारी लाखों बहनें हँसी-खुशी जीवन व्यतीत कर रही हैं, वही अवस्था तुम्हें इतनी असह्य हुई कि तुमने लोक-लाज, कुल-मर्यादा को लात मारकर कुपथ ग्रहण किया। क्या तुमने ऐसी स्त्रियाँ नहीं देखीं जो तुमसे कहीं दीन, हीन, दरिद्र, दुखी हैं? पर ऐसे कुविचार उनके पास नहीं फटकने पाते, नहीं आज यह स्वर्गभूमि नरक के समान हो जाती।

सुमन की आँखें सजल थीं। लज्जा से सिर न उठा सकी। विट्ठलदास फिर बोले—इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ तुम्हें भोग-विलास की सामग्रियाँ खूब मिलती हैं, लेकिन सोचो तो तुमने यह सामग्रियाँ किन दामों मोल ली हैं? अपनी मान-मर्यादा बेचकर। तुम्हारा कितना आदर था, लोग

तुम्हारी पदरज माथे पर चढ़ाते थे, लेकिन आज तुम्हें देखना भी पाप समझा जाता है...

सुमन ने बात काटकर कहा, महाशय, यह आप क्या कहते हैं? मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। (आप सोचते होंगे कि भोग-विलास की लालसा से कुमार्ग में आयी हूँ, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। मैं ऐसी अन्धी नहीं कि भले-बुरे की पहचान न कर सकूँ। मैं जानती हूँ कि मैंने अत्यन्त निकृष्ट कर्म किया है। लेकिन मैं विवश थी, इसके सिवा मेरे लिए और कोई रास्ता न था। पद्मसिंह के घर से निकलकर मैं भोलीबाई की शरण में गयी। मगर उस दशा में भी मैं इस कुमार्ग से भागती रही। मैंने चाहा कि कपड़े सीकर अपना निर्वाह करूँ, पर दुष्टों ने मुझे ऐसा तंग किया कि अन्त में मुझे इस कुएँ में कूदना पड़ा। यद्यपि इस काजल की कोठरी में आकर पवित्र रहना अत्यन्त कठिन है, पर मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि अपने सत्य की रक्षा करूँगी। गाऊँगी, नाचूँगी, पर अपने को भ्रष्ट न होने दूँगी।)

विठ्ठल—तुम्हारा यहाँ बैठना ही तुम्हें भ्रष्ट करने के लिए काफी है।

सुमन—तो फिर मैं और क्या कर सकती हूँ। आप ही बताइए, मेरे लिए जीवन बिताने का और कौन-सा उपाय है।

विठ्ठलदास—अगर ईश्वर तुम्हें सुबुद्धि दें तो सामान्य रीति से जीवन-निर्वाह करने के लिए तुम्हें दालमण्डी में बैठने की जरूरत नहीं है। तुम्हारे जीवन-निर्वाह का केवल यही एक उपाय नहीं है। ऐसे कितने धन्धे हैं जो तुम अपने घर में बैठी हुई कर सकती हो।

सुमन का मन अब कोई बहाना न ढूँढ़ सका। विठ्ठलदास के सदुत्साह ने उसे वशीभूत कर लिया। सच्चे आदमी को हम धोखा नहीं दे सकते। उसकी सच्चाई हमारे हृदय में उच्च भावों को जागृत कर देती है। उसने कहा, मुझे यहाँ बैठते स्वतः लज्जा आती है। बताइए, आप मेरे लिए क्या प्रबन्ध कर सकते हैं? मैं गाने में निपुण हूँ। गाना सिखाने का काम कर सकती हूँ।

विठ्ठलदास—ऐसी तो यहाँ कोई पाठशाला नहीं है।

सुमन—मैंने कुछ विद्या पढ़ी है, कन्याओं को अच्छी तरह पढ़ा सकती हूँ।

विठ्ठलदास ने चिन्तित भाव से उत्तर दिया, कन्या पाठशालाएँ तो कई हैं, पर तुम्हें लोग स्वीकार करेंगे, इसमें सन्देह है।

सुमन—तो फिर आप मुझसे क्या करने को कहते हैं! कोई ऐसा हिन्दू जाति का प्रेमी है जो मेरे गुजारे के लिए ५०) मासिक देने पर राजी हो?

विठ्ठलदास—यह तो मुश्किल है।

सुमन—तो क्या आप मुझसे चक्की पिसाना चाहते हैं! मैं ऐसी सन्तोषी नहीं हूँ।

विठ्ठलदास—(झेंपकर) विधवाश्रम में रहना चाहो तो उसका प्रबन्ध कर दिया जाय।

सुमन—(सोचकर) मुझे यह भी मंजूर है, पर वहाँ मैंने स्त्रियों को अपने सम्बन्ध में कानाफूसी करते देखा तो पलभर न ठहरूँगी।

विठ्ठलदास—यह टेढ़ी शर्त है, मैं किस-किस की जबान को रोकूँगा। लेकिन मेरी समझ में सभावाले तुम्हें लेने पर राजी भी न होंगे।

सुमन ने ताने से कहा, तो जब आपकी हिन्दू-जाति इतनी हृदय-शून्य है तो मैं उसकी मर्यादा पालने के लिए क्यों कष्ट भोगूँ, क्यो जान दूँ। आपसे केवल एक प्रस्ताव और करूँगी और यदि आप उसे भी पूरा न कर सकेंगे तो फिर मैं आपको और कष्ट न दूँगी। आप पं० पद्मसिंह को एक घंटे के लिए मेरे पास बुला लाइए, मैं उनसे एकान्त में कुछ कहना चाहती हूँ। उसी घड़ी मैं यहाँ से चली जाऊँगी। मैं केवल यह देखना चाहती हूँ कि जिन्हें आप जाति के नेता कहते हैं, उनकी दृष्टि में मेरे पश्चात्ताप का कितना मूल्य है।

विठ्ठलदास खुश होकर बोले, हाँ, यह मैं कर सकता हूँ, बोलो, किस दिन!

सुमन—जब आपका जी चाहे।

विठ्ठलदास—फिर तो न जाओगी ?

सुमन—अभी इतनी नीच नहीं हुई हूँ ।

१४

महाशय विठ्ठलदास इस समय ऐसे खुश थे मानों उन्हें कोई सम्पत्ति मिल गयी हो। उन्हें विश्वास था कि पद्मसिंह इस जरा-से कष्ट से मुँह न मोड़ेंगे, केवल उनके पास जाने की देर है। वह होली के कई दिन पहले से शर्माजी के पास नहीं गये थे। यथाशक्ति उनकी निन्दा करने में कोई बात उठा न रखी थी, जिस पर कदाचित् अब वह मन मे लज्जित थे, तिस पर भी शर्माजी के पास जाने में उन्हें जरा भी संकोच न हुआ। उनके घर की ओर चले। रात के दस बज गये थे। रास्ता अभी बन्द न हुआ था। विठ्ठलदास को ज्योंही कोई परिचित मनुष्य मिल जाता, वह उसे तुरन्त अपनी सफलता की सूचना देते। आप कुछ समझते हैं, कहाँ से आ रहा हूँ ? सुमनबाई की सेवा में गया था। ऐसा मन्त्र पढ़ा कि सिर न उठा सकी, विधवाश्रम में जाने पर तैयार है। काम करनेवाले यों काम किया करते हैं।

पद्मसिंह चारपाई पर लेटे हुए निद्रादेवी की आराधना कर रहे थे कि इतने में विठ्ठलदास ने आकर आवाज दी। वह समझ गये कि कोई नया समाचार होगा तभी यह इतनी रात गये आये हैं। तुरत बाहर निकल आये।

विठ्ठल—आइए, मैंने आपको बहुत कष्ट दिया, क्षमा कीजिएगा। सुमन बाई के पास गया था। आपका पत्र पाते ही दौड़ा कि बन पड़े तो उसे सीधी राह पर लाऊँ। इसमें उसी की बदनामी नहीं सारी जाति की बदनामी है। वहाँ पहुँचा तो उसके ठाट देखकर दंग रह गया। वह भोली-भाली स्त्री अब दालमंडी की रानी है; मालूम नहीं इतनी जल्दी वह ऐसी चतुर कैसे हो गयी। कुछ देर तक तो चुपचाप मेरी बातें सुनती रही, फिर रोने लगी। मैंने समझा, अभी लोहा लाल है, दो-चार चोटें और लगायीं, बस आ गयी पंजे मे। पहले विधवाश्रम का नाम सुनकर घबरायी। कहने लगी—मुझे ५०) महीना गुजर के लिए दिलवाइए। लेकिन आप जानते हैं यहाँ ५०) देनेवाला कौन है ? मैंने हामी न भरी। अन्त में कहते-सुनते एक शर्त पर

राजी हुई। उस शर्त को पूरा करना आपका काम है।

पद्मसिंह ने विस्मित होकर विट्ठलदास की ओर देखा।

विट्ठलदास—घबराइए नहीं, बहुत सीधी सी शर्त है; बस यही कि आप जरा देर के लिए उसके पास चले जायँ, वह आपसे कुछ कहना चाहती हैं। बताइए कब चलने का विचार है? मेरी समझ में सबेरे चलें!

किन्तु पद्मसिंह विचारशील मनुष्य थे। वह घण्टों सोच-विचार के बिना कोई फैसला न कर सकते थे। सोचने लगे कि इस शर्त का अभिप्राय क्या है? वह मुझसे क्या कहना चाहती है? क्या बात पत्र द्वारा न हो सकती थी? इसमे कोई-न-कोई रहस्य अवश्य है। केवल मुझे नीचा दिखाना चाहती है। अच्छा, अगर मैं जाऊँ भी लेकिन पीछे से वह अपना वचन पूरा न करे तो क्या होगा? यह युक्ति उन्हें अपना गला छुड़ाने के लिए उपयोगी मालूम हुई। बोले—मेरे जाने से कोई लाभ नहीं है। हाँ, यदि मेरा मान-मर्दन कराना ही अभीष्ट हो तो दूसरी बात है।

विट्ठल—कितने खेद की बात है कि आप जातीय कार्य के लिए इतना मीनमेष निकाल रहे हैं! शोक! आप आँखों से देख रहे हैं कि एक हिंदू जाति की स्त्री कुएँ में गिरी हुई है, और आप उसी जाति के एक विचारवान पुरुष होकर उसे निकालने में इतना आगा-पीछा कर रहे हैं। बस, आप इसी काम के हैं कि मूर्ख किसानों और जमीदारों का रक्त चूसें। आपसे और कुछ न होगा।

शर्माजी ने इस तिरस्कार का उत्तर न दिया। वह मन में अपनी अकर्मण्यता पर स्वयं लज्जित थे और अपने को इस तिरस्कार का भागी समझते थे। लेकिन एक ऐसे पुरुष के मुँह से ये बातें अत्यन्त अप्रिय मालूम हुई, जो इस बुराई का मूल कारण हो। वह बड़ी कठिनाई से प्रत्युत्तर देने के आवेग को रोक सके। यथार्थ में वह सुमन की रक्षा करना चाहते थे, लेकिन गुप्त रीति से। बोले, उसकी और भी तो शर्तें हैं?

विट्ठल—जी हाँ, हैं तो, लेकिन आप में उन्हें पूरा करने की सामर्थ्य है? वह गुजारे के लिए ५०) मासिक माँगती है, आप दे सकते हैं?

शर्माजी—५०) नहीं, लेकिन २०) देने को तैयार हूँ।

विट्ठल—शर्माजी, बातें न बनाइए। एक जरा-सा कष्ट तो आपसे उठाया नहीं जाता, आप २०) मासिक देंगे।

शर्माजी—मैं आपको वचन देता हूँ कि २०) मासिक दिया करूँगा और अगर मेरी आमदनी कुछ भी बढ़ी तो पूरी रकम भी दे दूँगा।

विट्ठल—अच्छा, आपने २०) दे ही दिये तो शेष कहाँ से आयेंगे? औरों का तो हाल आप जानते ही हैं, विधवाश्रम के चन्दे ही कठिनाई से वसूल होते हैं। मैं जाता हूँ, यथाशक्ति उद्योग करूँगा, लेकिन यदि कार्य सिद्ध न हुआ तो उसका दोष आपके सिर पड़ेगा।

१५

सन्ध्या का समय है। सदन दालमण्डी में दोनों तरफ छज्जों और खिड़कियों की ओर ताकता जा रहा है। जबसे सुमन वहाँ आयी है सदन उसके छज्जे के सामने किसी-न-किसी बहाने से जरा देर के लिए अवश्य ठहर जाता है। वह इस सरल सौन्दर्य-मूर्ति को अपना प्रेम अर्पण करने का परम अभिलाषी है, लेकिन उसे इसका कोई सुअवसर नहीं मिलता। सुमन के यहाँ रसिकों का नित्य जमघट रहता है। सदन को यह भय होता कि इनमें कोई चचा की जान-पहचान का मनुष्य न हो। इसलिए उसे ऊपर जाने का साहस नहीं होता। अपनी प्रबल अकांक्षा को हृदय में छिपाये वह नित्य इसी तरह निराश होकर लौट जाता है। लेकिन आज उसने मुलाकात करने का निश्चय कर लिया है, चाहे जितनी देर क्यों न हो जाय। विरह का दाह अब उससे नहीं सहा जाता। वह सुमन के कोठे के सामने पहुँचा। श्यामकल्याण की मधुर ध्वनि आ रही थी। आगे बढ़ा और दो घण्टे तक पार्क और मैदान में चक्कर लगाकर नौ बजे फिर दालमंडी की ओर चला। आश्विन के चन्द्र की उज्ज्वल किरणों ने दालमंडी की ऊँची छतों पर रुपहली चादर-सी बिछा दी थी। वह फिर सुमन के कोठे के सामने रुका। संगीत-ध्वनि बन्द थी, कुछ बोल-चाल न सुनायी दी। निश्चय हो गया कि कोई नहीं है। उसकी साँस बड़े वेग से चल रही थी और छाती

जोर से धड़क रही थी।

सुमन का ध्यान इस समय सुभद्रा की ओर लगा हुआ था। वह मन में उससे अपनी तुलना कर रही थी। जब पद्मसिंह के कचहरी से आने का समय होता, तो सुभद्रा कितनी उल्लसित होकर पान के बीड़े लगाती थी, ताजा हलवा पकाती थी। जब वह घर में आते थे तो वह कैसी प्रेम-विह्वल होकर उनसे मिलने दौड़ती थी। आह! मैंने उसका प्रेमालिंगन भी देखा है, कितना भावमय! कितना सच्चा! मुझे वह सुख कहाँ? यहाँ या तो अन्धे आते हैं, या बातो के वीर। कोई अपने धन का जाल बिछाता है, कोई अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों का। उनके हृदय भावशून्य, शुष्क और ओछेपन से भरे हुए होते हैं।

इतने मे सदन ने कमरे मे प्रवेश किया। सुमन चौंक पड़ी। उसने सदन को कई दिन देखा था। उसका चेहरा उसे पद्मसिंह के चेहरे से मिलता हुआ मालूम होता था। हाँ, उस गंभीरता की जगह एक उद्दंडता झलकती थी। वह सीदा-सादा, सहज स्वभाव, सरल नवयुवक मालूम होता था। सुमन ने आज उसे कोठों का निरीक्षण करते देखा था। उसने ताड़ लिया था कि कबूतर अब पर तोल रहा है, किसी छतरी पर उतरना चाहता है। आज उसे अपने यहाँ देखकर उसे वह गर्वपूर्ण आनन्द हुआ जो दंगल में कुश्ती मारकर किसी पहलवान को होता है। वह उठी और मुस्कराकर सदन की ओर हाथ बढ़ाया।

सदन का मुख लज्जा से अरुणवर्ण हो गया। आँखें झुक गयीं। उस पर एक रोब-सा छा गया। मुख से एक शब्द भी न निकला।

यद्यपि सदन ने सुमनबाई को अपना परिचय ठीक से नहीं दिया, उसने अपना नाम कुँवर सदनसिंह बताया, पर उसका भेद बहुत दिनों तक न छिप सका। सुमन ने हिरिया के द्वारा उस का पता भली-भाँति लगा लिया और तभी से वह बड़े चक्कर में पड़ी हुई थी। सदन को देखे बिना उसे चैन न पड़ता, उसका हृदय दिनों-दिन उसकी ओर खिंचता जाता था। उसके बैठे सुमन के यहाँ किसी बड़े-से-बड़े रईस का गुजर होना भी कठिन

था। किन्तु वह इस प्रेम को अनुचित और निषिद्ध समझती थी, इसे छिपाती थी। कहीं पद्मसिंह और सुभद्रा पर यह रहस्य खुल जाय तो वह मुझे क्या समझेंगे ? उन्हें कितना दुःख होगा ? मैं उनकी दृष्टि में कितनी नीच और घृणित हो जाऊँगी ? जब कभी सदन प्रेम-रहस्य की बातें करने लगता तो सुमन बात को पलट देती। साथ ही, वह सदन को उलझाये भी रखना चाहती थी। इस प्रेम-कल्पना से उसे जो आनन्द मिलता था, उसका त्याग क ने में वह असमर्थ थी।

लेकिन सदन उसके भावों से अनभिज्ञ होने के कारण उसकी प्रेम-शिथिलता को अपनी धन-हीनता पर अवलंबित समझता था। सुमन की अनिच्छा दिनों-दिन बढ़ती देखकर उसने अपने मन में यह निर्धारित किया कि प वत्र प्रेम की कदर यहाँ नहीं हो सकती। यहाँ के देवता उपासना से नहीं, भेंट से प्रसन्न होते हैं। लेकिन भेंट के लिए रुपए कहाँ से आयें ? माँगे किससे ? निदान उसने पिता को एक पत्र लिखा कि यहाँ मेरे भोजन का अच्छा प्रबन्ध नहीं है, लज्जावश चाचा साहब से कुछ कह नहीं सकता, मुझे कुछ रुपए भेज दीजिए।

घर पर यह पत्र पहुँचा तो भामा ने पति को ताने देने शुरू किये, इसी भाई का तुम्हें इतना भरोसा था, घमंड से धरती पर पाँव नहीं रखते थे। अब घमड टूटा कि नहीं ? मदनसिंह को संदेह हुआ कि सदन ने यह पाखंड रचा है। भाई पर उन्हें अखंड विश्वास था, लेकिन जब भामा ने रुपये भेजने पर जोर दिया तो उन्हें भेजने पड़े। सदन रोज डाकघर जाता, डाकिये से बार-बार पूछता। आखिर चौथे दिन ७५) का मनिआर्डर आया। डाकिया उसे पहचानता था, रुपए मिलने मे कोई कठिनाई न हुई। सदन हर्ष से फूला न समाया। सन्ध्या को बाजार से एक उत्तम रेशमी साड़ी मोल ली। लेकिन यह शका हो रही थी कि सुमन कहीं इसे नापसन्द न करे। जब खूब अँधेरा हो गया तो मन को दृढ़ करके सुमन के कोठे पर चढ़ गया और साड़ी चुपके से जेब से निकालकर शृंगारदान पर रख दी। सुमन उसके इस विलब से चिन्तित हो रही थी। उसे देखते

ही फूल के समान खिल गयी। बोली, यह क्या लाये? सदन ने झेंपते हुए कहा, कुछ नहीं, आज एक साड़ी नजर आ गयी, मुझे अच्छी मालूम हुई ले ली, यह तुम्हारी भेंट है।

सुमन के मन में प्रश्न हुआ कि इतने रुपए इन्हें मिले कहाँ? कहीं घर से तो नहीं उठा लाये। शर्माजी इतने रुपये क्यों देने लगे! इन्होंने उनसे कोई बहाना करके ठगे होंगे या उठा लाये होंगे। उसने विचार किया कि साड़ी लौटा दूँ, लेकिन उससे उसके दुखी हो जाने का भय था। इसके साथ ही साड़ी को रख लेने से उसके दुरुत्साह के बढ़ने की आशंका थी। निदान उसने निश्चय किया कि इसे अबकी बार रख लूँ, पर भविष्य के लिए चेतावनी दे दूँ। बोली, इस अनुग्रह से कृतार्थ हुई, लेकिन आपसे मैं भेंट की भूखी नहीं, आपकी यही कृपा क्या कम है कि आप यहाँ तक आने का कष्ट करते हैं? मैं केवल आपकी कृपादृष्टि चाहती हूँ।

लेकिन जब इस पारितोषिक से सदन का मनोरथ पूरा न हुआ और सुमन के बर्ताव में उसे कोई अन्तर न दिखायी दिया तो उसे विश्वास हो गया कि मेरा उद्योग निष्फल गया। वह अपने मन में लज्जित हुआ कि मैं एक तुच्छ भेंट देकर उससे इतने बड़े फल की आशा रखता हूँ, जमीन से उचककर आकाश से तारे तोड़ने की चेष्टा करता हूँ। अतएव वह कोई मूल्यवान् प्रेमोपहार देने की चिन्ता में लीन हो गया। मगर महीने तक उसे उसका कोई अवसर न मिला।

एक दिन वह नहाने बैठा तो साबुन न था। वह भीतर के स्नानालय में साबुन लेने गया। अन्दर पैर रखते ही उसकी निगाह ताक पर पड़ी। उसपर एक कंगन रखा हुआ था। सुभद्रा अभी नहाकर गयी थी, उसने कंगन उतारकर रख दिया था, लेकिन चलते समय उसकी सुध न रही। कचहरी का समय निकट था, वह रसोई में चली गयी। कंगन वहीं धरा रह गया। सदन ने उसे देखते ही लपककर उठा लिया। इस समय उसके मन में कोई बुरा भाव न था। उसने सोचा, चाची को खूब हैरान करके

तब दूँगा; अच्छी दिल्लगी रहेगी। कंगन को छिपाकर बाहर लाया और संदूक में रख दिया। सुभद्रा भोजन से निवृत्त होकर लेट रही, आलस्य आया, सोई तो तीसरे पहर को उठी। इसी बीच में पंडित जी कचहरी से आ गये, उनसे बातचीत करने लगी, कंगन का ध्यान ही न रहा। सदन कई बार भीतर गया कि देखूँ इसकी कोई चर्चा हो रही है या नहीं, लेकिन उसका कोई जिक्र न सुनायी दिया। सन्ध्या समय जब वह सैर करने के लिए तैयार हुआ तो एक आकस्मिक विचार से प्रेरित होकर उसने वह कंगन जेब में रख लिया। उसने सोचा, क्यों न यह कंगन सुमनबाई को नजर करूँ? यहाँ तो मुझसे कोई पूछेगा ही नहीं और अगर पूछा भी गया तो कह दूँगा, मैं नहीं जानता। चाची समझेंगी नौकरों में से कोई उठा ले गया होगा। इस तरह के कुविचारों ने उसका संकल्प दृढ़ कर दिया। उसका जी कहीं सैर करने में न लगा। उसने एक छोटा सा मखमली बक्स लिया, उसमें कंगन को रखकर सुमन के यहाँ जा पहुँचा। वह इस बहुमूल्य वस्तु को इस प्रकार भेंट करना चाहता था मानों वह कोई अति सामान्य वस्तु दे रहा हो। आज वह बहुत देर तक बैठा रहा। सन्ध्या का समय उसने उसके लिए निकाल रखा था। किन्तु आज प्रेमालाप में भी उसका जी न लगता था। उसे चिन्ता लगी हुई थी कि यह कंगन कैसे भेंट करूँ? जब बहुत देर हो गयी तो वह चुपके से उठा, जेब से बक्स निकाला और उसे पलँग पर रखकर दरवाजे की तरफ चला। सुमन ने देख लिया, पूछा, इस बक्स में क्या है?

सदन—कुछ नहीं, खाली बक्स है।

सुमन—नहीं, ठहरिए मैं देख लूँ।

यह कहकर उसने सदन का हाथ पकड़ लिया और सन्दूकची को खोलकर देखा। इस कंगन को उसने सुभद्रा के हाथ में देखा था। उसकी बनावट बहुत अच्छी थी। पहचान गयी, हृदय पर बोझ-सा आ पड़ा। उदास होकर बोली, मैंने आपसे कह दिया था कि मैं इन चीजों की भूखी नहीं हूँ। आप व्यर्थ मुझे लज्जित करते हैं।

सदन ने लापरवाही से कहा, मानों वह कोई बड़ा राजा है—गरीब का पान-फूल स्वीकार करना चाहिए।

सुमन—मेरे लिए सबसे अमूल्य वस्तु आपकी कृपा है। वही मेरे ऊपर बनी रहे, मेरे हृदय में आपके प्रति पवित्र प्रेम है। वह इन इच्छाओं से रहित है। आपके व्यवहार से ऐसा मालूम होता है कि अभी आप मुझे बाजारू औरत ही समझे हुए हैं। आप ही एक ऐसे पुरुष हैं जिस पर मैंने अपना प्रेम, अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, लेकिन आपने अभी तक उसका कुछ मूल्य न समझा।

सदन की आँखें भर आयीं। उसने मन में सोचा, यथार्थ में मेरा ही दोष है। मैं उसके प्रेम जैसी अमूल्य वस्तु को तुच्छ उपहारों का इच्छुक समझता हूँ। मैं हथेली पर सरसों जमाने की चेष्टा में इस रमणी के साथ ऐसा अनर्थ करता हूँ। आज इन नगर में ऐसा कौन है जो उसके एक प्रेम-कटाक्ष पर अपना सर्वस्व न लुटा दे? बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान मनुष्य आते हैं और वह किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती, पर मैं ऐसा भावशून्य नीच हूँ कि इस प्रेमरत्न को कौड़ियों से मोल लेना चाहता हूँ। इस ग्लानिपूर्ण भावों से वह रो पड़ा। सुमन समझ गयी कि वह वाक्य अखर गये। करुण-स्वर से बोली, आप मुझसे नाराज हो गये क्या?

सदन ने आँसू पीकर कहा—हाँ, नाराज तो हूँ।

सुमन—क्यों नाराज हैं?

सदन—इसलिए कि तुम मुझे बाणों से छेदती हो। तुम समझती हो कि मैं ऐसी तुच्छ वस्तु से प्रेम मोल लेना चाहता हूँ।

सुमन—तो यह चीजें क्यां लाते हो?

सदन—मेरी इच्छा!

सुमन—नहीं, अब से मुझे क्षमा कीजिएगा।

सदन—खैर, देखा आयगा।

सुमन—आपकी खातिर से मैं इस तोहफे को रख लेती हूँ। लेकिन इसे थाती समझती रहूँगी। आप अभी स्वतन्त्र नहीं हैं। जब आप अपनी

रियासत के मालिक हो जायँ तब मैं आपसे मनमाना कर वसूल करूँगी, लेकिन अभी नहीं। ✓

१६

बाबू विठ्ठलदास अधूरा काम न करते थे। पद्मसिंह की ओर से निराश होकर उन्हें यह चिंता होने लगी कि सुमनबाई के लिए ५०) मासिक का चन्दा कैसे करूँ? उनकी स्थापित की हुई संस्थाएँ चन्दे ही से चल रही थीं, लेकिन चन्दों के वसूल होने में सदैव कठिनाइयों का सामना होता था। लेकिन चन्दे के सिवा धन-संग्रह का उन्हें और कोई उपाय न सूझा। सेठ बलभद्रदास शहर के प्रधान नेता, आनरेरी मजिस्ट्रेट और म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन थे। पहले उनकी सेवा में उपस्थित हुए। सेठजी अपने बँगले में आरामकुर्सी पर लेटे हुए हुक्का पी रहे थे। बहुत ही दुबले-पतले, गोरे-चिट्टे आदमी थे, बड़े रसिक, बड़े शौकिन। वह प्रत्येक काम में बहुत सोच-समझकर हाथ डालते थे। विठ्ठलदास का प्रस्ताव सुनकर बोले—प्रस्ताव तो बहुत उत्तम है, लेकिन मेरी सम्मति तो यह है कि आप इस झगड़े में न पड़ें। जिस स्त्री को लोक-निन्दा की लाज नहीं, उसे कोई शक्ति नहीं सुधार सकती। यह नियम है कि जब हमारा कोई अंग विकृत हो जाता है तो उसे काट डालते हैं, जिसमें उसका विष समस्त शरीर को नष्ट न कर डाले। समाज में भी उसी नियम का पालन करना चाहिए। मैं देखता हूँ कि आप मुझसे सहमत नहीं हैं, लेकिन मेरा जो कुछ विचार था वह मैंने स्पष्ट कह दिया। मैं किसी तरह इस वेश्या को आश्रम में रखने की सलाह न दूँगा।

विठ्ठलदास ने रोष से कहा, सारांश यह कि इस काम में आप मुझे कोई सहायता नहीं दे सकते? जब आप जैसे महापुरुषों का यह हाल है तो दूसरों से क्या आशा हो सकती है। मैंने आपका बहुत समय नष्ट किया इसके लिए क्षमा कीजिएगा।

यह कहकर विठ्ठलदास उठ खड़े हुए और सेठ चिम्मनलालजी की सेवा में पहुँचे। यह सांवले रंग के बेडौल पुरुष थे। बहुत ही स्थूल, ढीले-

ढाले, शरीर में हाड़ की जगह मांस और मांस की जगह वायु भरी हुई थी। उनके विचार भी शरीर ही के समान बेडौल थे। वह ऋषि-धर्म-सभा के सभापति, रामलीला कमेटी के चेयरमैन और रासलीला परिषद् के प्रबन्धकर्ता थे। राजनीति को विष-भरा साँप समझते थे और समाचार पत्रों को साँप की बाँबी। उच्च अधिकारियों के मिलने की धुन थी। अँग्रेजों के समाज में उनका विशेष मान था। वहाँ उनके सद्‌गुणों की बड़ी प्रशंसा होती थी। वह उदार न थे, न कृपण। इस विषय में चन्दे की नामावली उनका मार्ग निश्चय किया करती थी। उनमें एक बड़ा गुण था जो उनकी दुर्बलताओं को छिपाये रहता था। यह उनकी विनोदशीलता थी।

विट्ठलदास का प्रस्ताव सुनकर बोले, महाशय, आप भी बिलकुल शुष्क मनुष्य हैं। आप में जरा भी रस नहीं। मुद्दत के बाद तो दालमंडी में एक चीज नजर आयी, आप उसे भी गायब करने पर तुले हुए हैं। कम-से-कम अबकी रासलीला तो हो जाने दीजिए। राजगद्दी के दिन उसका जल्सा, होगा, धूम मच जायगी। आखिर तुर्किनें आकर मन्दिर को भ्रष्ट करती हैं, ब्राह्मणी रहे तो क्या बुरा है! खैर, यह तो दिल्लगी हुई। क्षमा कीजिएगा। आपको धन्यवाद है कि ऐसे-ऐसे शुभ कार्य आपके हाथों पूरे होते हैं। कहाँ है चंदे की फिहरिस्त?

विट्ठलदास ने सिर खुजलाते हुए कहा, अभी तो मैं केवल सेठ बलभद्रदासजी के पास गया था, लेकिन आप जानते ही हैं, वह एक बैठकबाज हैं, इधर-उधर की बातें करके टाल दिया।

अगर बलभद्रदास ने एक लिखा होता तो यहाँ दो में संदेह न था। दो लिखते तो चार का निश्चित था। जब गुणा कहीं शून्य हो तो गुणनफल शून्य के सिवा और क्या हो सकता था। लेकिन बहाना क्या करते। तुरन्त एक आश्रय मिल गया। बोले—महाशय, मुझे आपसे पूरी सहानुभूति है। लेकिन बलभद्रदास ने कुछ समझकर ही टाला होगा। जब मैं भी दूर तक सोचता हूँ तो इस प्रस्ताव में कुछ राजनीति का रंग दिखाई देता है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। आप चाहे इसे उस दृष्टि से न देखते हों, लेकिन मुझे

तो इसमें गुप्त राजनीति भरी हुई साफ नजर आती है। मुसलमानों को यह बात अवश्य बुरी मालूम होगी, वह जाकर अधिकारियों से इसकी शिकायत करेंगे। अधिकारियों को आप जानते ही हैं, आँखें नहीं केवल कान होते हैं। उन्हें तुरन्त किसी षड्यन्त्र का संदेह हो जायगा।

विट्ठलदास का मनोरथ यहाँ भी पूरा न हुआ, लेकिन यह उनके लिए कुछ नयी बात न थी। ऐसे निराशाजनक अनुभव उन्हें नित्य ही हुआ करते थे। यहाँ से डाक्टर श्यामाचरण के पास पहुँचे। डाक्टर महोदय बड़े समझदार और विद्वान् पुरुष थे। शहर के प्रधान राजनीतिक नेता थे, उनकी वकालत खूब चमकी हुई थी। बहुत तौल-तौलकर मुँह से शब्द निकालते थे। उनकी मौन गम्भीरता विचारशीलता की द्योतक समझी जाती थी। शान्ति के भक्त थे, इसलिए उनके विरोध से न किसी को हानि थी, न उनके योग से किसी को लाभ। सभी तरह के लोग उन्हें अपना मित्र समझते थे, सभी अपना शत्रु। वह अपनी कमिश्नरी की ओर से सूबे की सलाहकारी सभा के सभासद थे। विट्ठलदासजी की बातें सुनकर बोले, मेरे योग्य जो सेवा हो वह मैं करने को तैयार हूँ। लेकिन उद्योग यह होना चाहिए कि उन कुप्रथाओं का सुधार किया जाय जिनके कारण ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती हैं। इस समय आप एक की रक्षा कर ही लेंगे तो इससे क्या होगा? यहाँ तो नित्य ही ऐसी दुर्घनाएँ होती रहती हैं। मूल कारणों का सुधार होना चाहिए। कहिए तो कौंसिल में कोई प्रश्न करूँ?

विट्ठलदास उछलकर बोले, जी हाँ, यह तो बहुत ही उत्तम होगा।

इसके बाद डाक्टर साहब अपने मुवक्किलों से बातें करने लगे, विट्ठलदास आध घण्टे तक बैठे रहे, अन्त में अधीर होकर बोले, तो मुझे क्या आज्ञा होती है?

श्यामाचरण—आप इतमीनान रखें, अबकी कौंसिल की बैठक में गवर्नमेंट का ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित करूँगा।

विट्ठलदास के जी में आया कि डाक्टर साहब को आड़े हाथों लूँ,

किन्तु कुछ सोचकर चुप रह गये। फिर किसी बड़े आदमी के पास जाने का साहस न हुआ। लेकिन उस कर्मवीर ने उद्योग से मुँह नहीं मोड़ा। नित्य किसी सज्जन के पास जाते और उससे सहायता की याचना करते। यह उद्योग सर्वथा तो निष्फल नहीं हुआ। उन्हें कई सौ रुपए के वचन और कई सौ रुपए नकद मिल गये, लेकिन ३०) मासिक की जो कमी थी वह इतने धन से क्या पूरी होती? तीन महीने की दौड़ धूप के बाद वह बड़ी मुश्किल से १०) मासिक का प्रबन्ध करने में सफल हो सके।

अन्त में जब उन्हें अधिक सहायता की कोई आशा न रही तो वह एक दिन प्रातःकाल सुमनबाई के पास गये। वह इन्हें देखते ही कुछ अनमनी-सी होकर बोली, कहिए महाशय, कैसे कृपा की?

विठ्ठल—तुम्हें अपना वचन याद है?

सुमन—इतने दिनों की बातें अगर मुझे भूल जायँ तो मेरा दोष नहीं।

विठ्ठल—मैंने तो बहुत चाहा कि शीघ्र ही प्रबन्ध हो जाय, लेकिन ऐसी जाति से पाला पड़ा है जिसमें जातीयता का सर्वथा लोप हो गया है। तिस पर भी मेरा उद्योग बिलकुल व्यर्थ नहीं हुआ। मैंने ३०) मासिक का प्रबन्ध कर लिया है और आशा है कि और जो कसर है वह भी पूरी हो जायगी। अब तुमसे मेरी यह प्रार्थना है कि इसे स्वीकार करो और आज ही इस नरककुण्ड को छोड़ दो।

सुमन—शर्माजी को आप नहीं ला सके क्या?

विठ्ठल—वह किसी तरह आने पर राजी न हुए। इस ३०) में २०) मासिक का वचन उन्होंने दिया है।

सुमन ने विस्मित होकर कहा, अच्छा! वह तो बड़े उदार निकले।

सुमन इस समय सदन के प्रेमजाल में फँसी हुई थी। प्रेम का आनन्द उसे कभी नहीं प्राप्त हुआ था, इस दुर्लभ रत्न को पाकर वह उसे हाथ से नहीं जाने देना चाहती थी। यद्यपि वह जानती थी कि इस प्रेम का परिणाम वियोग के सिवा और कुछ नहीं हो सकता, लेकिन उसका मन कहता था कि जब तक यह आनन्द मिलता है तब तक उसे क्यों न भोगूँ। आगे

चलकर न जाने क्या होगा, जीवन की नाव न जाने किस-किस भँवर में पड़ेगी, न जाने कहाँ-कहाँ भटकेगी ! भावी चिन्ताओं को वह अपने पास न आने देती थी क्योंकि उधर भयंकर अंधकार के सिवा और कुछ न सूझता था। अतएव जीवन के सुधार का वह उत्साह, जिसके वशीभूत होकर उसने विट्ठलदास से वह प्रस्ताव किये थे, क्षीण हो गया था। इस समय अगर विट्ठलदास १००) मासिक का लोभ दिखाते तो भी वह खुश न होती, किन्तु एक बार जो बात खुद ही उठायी थी उससे फिरते हुए शर्म आती थी। बोली, मैं इसका जवाब आपको कल दूँगी। अभी कुछ सोच लेने दीजिए।

विट्ठल—इसमें क्या सोचना-समझना है ?

सुमन—कुछ नहीं, लेकिन कल ही पर रखिए।

रात के दस बज गये थे। शरद् ऋतु की सुनहरी चाँदनी छिटकी हुई थी। सुमन खिड़की से नीलवर्ण आकाश की ओर ताक रही थी। जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलीन पड़ गई थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चन्द्ररूपी सुविचार ने विकाररूपी तारागण को ज्योतिहीन कर दिया था।

सुमन के सामने एक कठिन समस्या उपस्थित थी, विट्ठलदास को क्या उत्तर दे ?

आज प्रातःकाल उसने कल जवाब देने का बहाना करके विट्ठलदास को टाला था। लेकिन दिन-भर के सोच-विचार ने उसके विचारों में कुछ संशोधन कर दिया था।

सुमन को यद्यपि यहाँ भोग-विलास के सभी सामान प्राप्त थे, लेकिन बहुधा उसे ऐसे मनुष्यों की आवभगत करनी पड़ती थी जिनकी सूरत से उसे घृणा होती थी, जिनकी बातों को सुनकर उसका जी मिचलाने लगता था। अभी उसके मन में उत्तम भावों का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। वह उस अधोगति को नहीं पहुँची थी, जहाँ दुर्व्यसन हृदय के समस्त भावों को नष्ट कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि वह विलास की सामग्रियों

पर जान देती थी, लेकिन इन सामग्रियों की प्राप्ति के लिए जिस बेहयाई की जरूरत थी वह उसके लिए असह्य थी, और कभी-कभी एकान्त में वह अपनी वर्तमान दशा की पूर्वावस्था से तुलना किया करती थी। वहाँ यह टीमटाम न थी, किन्तु वह अपने समाज में आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। किसी के सम्मुख उसका सिर नीचा नहीं होता था। लेकिन यहाँ उसके सगर्व हृदय को पग-पग पर लज्जा से मुँह छिपाना पड़ता था। उसे ज्ञात होता था कि मैं किसी कुलटा के सामने भी सिर उठाने योग्य नहीं हूँ। जो निरादर और अपमान उसे उस समय सहने पड़ते थे उनकी अपेक्षा यहाँ की प्रेमवार्त्ता और आँखों की सनकियाँ अधिक दुःखजनक प्रतीत होती थीं और उसके भावपूर्ण हृदय पर कुठाराघात कर देती थीं। तब उसका व्यथित हृदय पद्मसिंह पर दाँत पीसकर रह जाता था। यदि उस निर्दय मनुष्य ने अपनी बदनामी के भय से मेरी अवहेलना न की होती तो मुझे इस पापकुण्ड में कूदने का साहस न होता। अगर वह मुझे चार दिन भी पड़ा रहने देते तो कदाचित् मैं अपने घर लौट जाती अथवा वह (गजाधर) ही मुझे मना ले जाते, फिर उसी प्रकार लड़-झगड़कर जीवन के दिन काटने-कटने लगते। इसीलिए उसने विठ्ठलदास से पद्मसिंह को अपने साथ लाने की शर्त की थी।

लेकिन आज जब विठ्ठलदास से उसे ज्ञात हुआ कि शर्माजी मुझे उबारने के लिए कितने उत्सुक हो रहे हैं और कितनी उदारता के साथ मेरी सहायता करने पर तैयार हैं तो उनके प्रति घृणा के स्थान पर उसके मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। वह बड़े सज्जन पुरुष हैं। मैं खामखाह अपने दुराचार का दोष उनके सिर रखती हूँ। उन्होंने मुझ पर दया की है। मैं जाकर उनके पैरों पर गिर पड़ूँगी और कहूँगी कि आपने इस अभागिन का जो उपकार किया है उसका बदला आपको ईश्वर देंगे। यह कंगन भी लौटा दूँ, जिसमें उन्हें यह संतोष हो जाय कि जिस आत्मा की मैंने रक्षा की है वह सर्वथा उसके अयोग्य नहीं है। बस, वहाँ से आकर इस पाप के मायाजाल से निकल भागूँ।

लेकिन सदन को कैसे भुलाऊँगी ?

(६) अपने मन की इस चंचलता पर वह झुँझला पड़ी। क्या उस पापमय प्रेम के लिए जीवन-सुधार के इस दुर्लभ अवसर को हाथ से जाने दूँ ? चार दिन की चाँदनी के लिए सदैव पाप के अन्धकार में पड़ी रहूँ ! अपने हाथ से एक सरल हृदय का जीवन नष्ट करूँ ? जिन सज्जन पुरुष ने मेरे साथ यह सद्व्यवहार किया है उन्हीं के साथ यह छल ! यह कपट ! नहीं, मैं इस दूषित प्रेम को हृदय से निकाल दूँगी। सदन को भूल जाऊँगी। उससे कहूँगी, तुम भी मुझे इस मायाजाल से निकलने दो।

आह ! मुझे कैसा धोखा हुआ ! यह स्थान दूर से कितना सुहावन, मनोरम, कितना सुखमय दिखाई देता था। मैंने इसे फूलों का बाग समझा, लेकिन है क्या ? एक भयंकर बन, मांसाहारी पशुओं और विषैले कीड़ों से भरा हुआ !

यह नदी दूर से चाँद की चादर-सी बिछी हुई कैसी भली मालूम होती थी ? पर अन्दर क्या मिलता है ? बड़े-बड़े विकराल जल-जन्तुओं का क्रीड़ा-स्थल ! सुमन इसी प्रकार विचार-सागर में मग्न थी। उसे यह उत्कंठा हो रही थी कि किसी तरह सबेरा हो जाय और विट्ठलदास आ जायँ, किसी तरह यहाँ से निकल भागूँ। आधी रात बीत गयी और उसे नींद न आयी। धीरे-धीरे उसे शंका होने लगी कि कहीं सबेरे विट्ठलदास न आये तो क्या होगा ? क्या मुझे फिर यहाँ प्रातःकाल से संध्या तक मीरासियों और धाड़ियों की चापलूसियाँ सुननी पड़ेंगी। फिर पाप-रजोलिप्त पुतलियों का आदर-सम्मान करना पड़ेगा ? सुमन को यहाँ रहते हुए अभी छः मास भी पूरे नहीं हुए थे लेकिन इतने ही दिनों में उसे यहाँ का पूरा अनुभव हो गया था। उसके यहाँ सारे दिन मीरासियों का जमघट रहता था। वह अपने दुराचार, छल और क्षुद्रता की कथाएँ बड़े गर्व से कहते। उनमें कोई चतुर गिरहकट था, कोई धूर्त ताश खेलनेवाला, कोई टपके की विद्या में निपुण, कोई दीवार फाँदने के फन का उस्ताद और सब-के-सब अपने दुस्साहस और दुर्बलता पर फूले हुए। पड़ोस की रमणियाँ भी नित्य आती

थीं, रँगी, बन-ठनी, दीपक के समान जगमगाती हुईं, किन्तु ये स्वर्णपात्र, ये हलाहल से भरे हुए पात्र—उनमें कितना छिछोरापन था! कितना छल! कितनी कुवासना! वह अपनी निर्लज्जता और कुकर्मों के वृत्तांत कितने मजे ले-लेकर कहतीं। उनमें लज्जा का अंश भी न रहा था। सदैव ठगने की, छलने की धुन, मन सदैव पापतृष्णा में लिप्त। शहर में जो लोग सच्चरित्र थे उन्हें यहाँ खूब गालियाँ दी जाती थीं, उनकी खूब हँसी उड़ायी जाती थी, बुद्धू, गौखा आदि की पदवियाँ दी जाती थीं। दिन-भर सारे शहर की चोरी और डाके, हत्या और व्यभिचार, गर्भपात और विश्वासघात की घटनाओं की चर्चा रहती। यहाँ का आदर और प्रेम अब अपने यथार्थ रूप में दिखाई देता था। यह प्रेम नहीं था आदर नहीं था, केवल कामलिप्सा थी। अब तक सुमन धैर्य के साथ यह सारी विपत्तियाँ झेलती थी, उसने समझ लिया था कि अब इसी नरककुण्ड में जीवन व्यतीत करना है तो इन बातों से कहाँ तक भागूँ। नरक में-पड़कर नारकीय धर्म का पालन करना अनिवार्य था। पहली बार विट्ठलदास जब उसके पास आये तो उसने मन में उनकी उपेक्षा की थी, उस समय तक उसे यहाँ के रंग ढंग का ज्ञान न था। लेकिन आज मुक्ति का द्वार सामने खुला देखकर इस कारागार में उसे क्षण-भर भी ठहरना असह्य हो रहा था। जिस तरह अवसर पाकर मनुष्य की पापचेष्टा जाग्रत हो जाती है, उसी प्रकार अवसर पाकर उसकी धर्म-चेष्टा भी जागृत हो जाती है। रात के तीन बजे थे। सुमन अभी तक करवटें बदल रही थी, उसका मन बलात् सदन की ओर खिंचता था। ज्यों-ज्यों प्रभात निकट आता था, उसकी व्यग्रता बढ़ती जाती थी। वह अपने को समझा रही थी—तू इस प्रेम पर फूला हुआ है! क्या तुम्हें मालूम नहीं कि इसका आधार केवल रंगरूप है! यह प्रेम नहीं है, प्रेम की लालसा है। यहाँ कोई सच्चा प्रेम करने नहीं आता। जिस भाँति मन्दिर में कोई सच्ची उपासना करने नहीं जाता, उसी प्रकार इस मण्डी में कोई प्रेम का सौदा करने नहीं आता, सब लोग केवल मन बहलाने के लिए आते हैं। इस प्रेम के भ्रम में मत पड़।

अरुणोदय के समय सुमन को नींद आ गयी।

१७

सुमन ने दिन-भर विट्ठलदास की राह देखी, लेकिन वह शाम तक नहीं आये। सुमन के मन में जो नाना प्रकार की शंकाएँ उठ रही थीं वह पुष्ट हो गयीं। विट्ठलदास अब नहीं आयेंगे, अवश्य कोई विघ्न पड़ा। या तो वे किसी दूसरे काम में फँस गये या जिन लोगों ने सहायता का वचन दिया था वे पलट गये। मगर कुछ भी हो एक बार विट्ठलदास को यहाँ आना चाहिए था। मुझे मालूम तो हो जाता कि क्या निश्चय हुआ। अगर कोई मेरी सहायता नहीं करता, न करे, मैं अपनी मदद आप कर लूँगी, केवल एक सज्जन पुरुष का आड़ चाहिए। क्या विट्ठलदास से इतना भी नहीं होगा? चलूँ, उनसे मिलूँ और कह दूँ कि मुझे आर्थिक सहायता की इच्छा नहीं है, आप इसके लिए हैरान न हों, केवल मेरे रहने का प्रबन्ध कर दें और मुझे कोई काम बता दें, जिससे मुझे सूखी रोटियाँ मिल जाया करें। मैं और कुछ नहीं चाहती। लेकिन मालूम नहीं, वह कहाँ रहते हैं, बे पते-ठिकाने कहाँ-कहाँ भटकती फिरूँगी!

चलूँ पार्क की तरफ, लोग वहाँ हवा खाने आया करते हैं, संभव है, उनसे भेंट हो जाय। शर्माजी नित्य उधर ही घूमने जाया करते हैं, संभव है, उन्हीं से भेंट हो जाय। उन्हें यह कंगन दे दूँगी और इसी बहाने से इस विषय में भी कुछ बात-चीत कर लूँगी।

यह निश्चय करके सुमन ने एक किराये की बग्घी मँगवायी और अकेले सैर को निकली। बग्घी कुइन्स पार्क की ओर चली। यह पार्क शहर से दूर था, बहुत कम लोग इधर आते थे। लेकिन पद्मसिंह का एकान्त प्रेम उन्हें यहाँ खींच लाया करता था। यहाँ विस्तृत मैदान में एक तकियेदार बेंच पर बैठे हुए वह घंटों विचार में मग्न रहे। ज्योंही बग्घी फाटक के भीतर आयी सुमन को शर्माजी मैदान में अकेले बैठे दिखायी दिये। सुमन का हृदय दीपशिखा की भाँति थरथराने लगा। भय की इस दशा का ज्ञान पहले होता तो वह यहाँ तक आ ही न सकती। लेकिन इतनी दूर आकर

और शर्माजी को सामने बैठे देखकर, निष्काम लौट जाना मूर्खता थी। उसने जरा दूरी पर बग्घी रोक दी और गाड़ी से उतरकर शर्माजी की ओर चली, उसी प्रकार जैसे शब्द वायु के प्रतिकूल चलता है।

शर्माजी कुतूहल से बग्घी देख रहे थे। उन्होंने सुमन को पहचाना नहीं, आश्चर्य हो रहा था कि यह कौन महिला इधर चली आती है। विचार किया कि कोई ईसाई लेडी होगी, लेकिन जब सुमन समीप आ गयी तो उन्होंने उसे पहचाना। एक बार उसकी ओर दबी आँखों से देखा, फिर जैसे हाथ-पाँव फूल गये हों। जब सुमन सिर झुकाये हुए उनके सामने आकर खड़ी हो गयी तो वह झेंपे हुए दीनतापूर्ण नेत्रों से इधर-उधर देखने लगे, मानों छिपने के लिए कोई बिल ढूँढ़ रहे हों। तब अकस्मात् वह लपककर उठे और पीछे की ओर फिरकर वेग के साथ चलने लगे। सुमन पर जैसे वज्रपात हो गया। वह क्या आशा मन में लेकर आयी थी और क्या आँखों से देख रही है! प्रभो, यह मुझे इतना नीच और अधम समझते हैं कि मेरी परछाईं से भी भागते हैं। वह श्रद्धा जो उसके हृदय में शर्माजी के प्रति उत्पन्न हो गयी थी, क्षणमात्र में लुप्त हो गयी। यह अपमान न सहा गया। तीव्र स्वर से बोली, मैं आपसे कुछ माँगने नहीं आयी हूँ कि आप इतना डर रहे हैं। मैं आपको केवल यह कंगन देने आयी हूँ। यह लीजिए, अब मैं आप ही चली जाती हूँ।

यह कहकर उसने कंगन निकालकर शर्माजी की तरफ फेंका।

शर्माजी ठिठक गये, जमीन पर पड़े हुए कंगन को देखा। यह सुभद्रा का कंगन था।

सुमन बग्घी की तरफ कई कदम जा चुकी थी। शर्माजी उसके निकट आकर बोले, तुम्हें यह कंगन कहाँ मिला?

सुमन—अगर मैं आपकी बातें न सुनूँ और मुँह फेरकर चली जाऊँ तो आपको बुरा न मानना चाहिए।

पद्म—सुमन बाई, मुझे लज्जित न करो, मैं तुम्हारे सामने मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ।

सुमन—क्यों ?

पद्म—मुझे बार-बार यह वेदना होती है कि अगर उस अवसर पर मैंने तुम्हें अपने घर से जाने के लिए न कहा होता तो यह नौबत न आती।

सुमन—तो इसके लिए आपको लज्जित होने की क्या आवश्यकता है ? अपने घर से निकालकर आपने मुझपर बड़ी कृपा की, मेरा जीवन सुधार दिया।

शर्माजी इस ताने से तिलमिला उठे—अगर यह कृपा है तो गजाधर पाँडे और विट्ठलदास की है, मैं ऐसी कृपा का श्रेय नहीं चाहता।

सुमन—आप 'नेकी कर और दरिया में डाल' वाली कहावत पर चलें, पर मैं तो मन में आपका एहसान मानती हूँ। शर्माजी, मेरा मुँह न खुलवाइये, मन की बात मन ही में रहने दीजिए, लेकिन आप जैसे सहृदय मनुष्य से मुझे ऐसी निर्दयता की आशा न थी। आप चाहे समझते हों कि आदर और सम्मान की भूख बड़े आदमियों ही को होती है, किन्तु दीन दशावाले प्राणियों को इसकी भूख और भी अधिक होती है। मेरे मन में नित्य यही चिंता रहती थी कि यह आदर कैसे मिले। आपके होलीवाले जलसे के दिन इसका जो उत्तर मिला, उसने मुझे आदर और सम्मान का मार्ग दिखा दिया। यदि मैं उस जलसे में न जाती तो आज मैं अपने झोंपड़े में संतुष्ट होती ! आपको मैं बहुत सच्चरित्र पुरुष समझती थी, इसलिए आपकी रसिकता का मुझपर और भी प्रभाव पड़ा। भोली बाई आपके सामने गर्व से बैठी हुई थी, आप उसके सामने आदर और भक्ति की मूर्ति बने हुए थे। आपके मित्र-वृन्द उसके इशारों पर कठपुतली की भाँति नाचते थे। एक सरल-हृदया आदर की अभिलाषिणी स्त्री पर इस दृश्य का जो फल हो सकता था वही मुझपर हुआ पर अब उन बातों का जिक्र ही क्या ? जो हुआ वह हुआ। आपको क्यों दोष दूँ ? यह सब मेरा अपराध था। मैं....

सुमन और कुछ कहना चाहती थी, लेकिन शर्माजी ने, जो इस कथा को बड़े गंभीर भाव से सुन रहे थे, बात काट दी और पूछा, सुमन ये बातें

तुम मुझे लज्जित करने के लिए कह रही हो या सच्ची हैं ?

सुमन—कह तो आपको लज्जित करने ही के लिए रही हूँ लेकिन बातें सच्ची हैं। इन बातों को बहुत दिन हुए मैंने भुला दिया था लेकिन इस समय आपने मेरी परछाईं से दूर रहने की चेष्टा करके वे सब बातें मुझे याद दिला दीं। लेकिन अब मुझे स्वयं पछतावा हो रहा है, मुझे क्षमा कीजिए।

शर्माजी ने सिर न उठाया, फिर विचार में डूब गये। सुमन उन्हें धन्यवाद देने आयी थी, लेकिन बातों का कुछ क्रम ऐसा बिगड़ा कि उसे इसका अवसर ही न मिला और अब इतनी अप्रिय बातों के बाद उसे अनुग्रह और कृपा की चर्चा असंगत जान पड़ी। वह अपनी बग्घी की ओर चली। एकाएक शर्माजी ने पूछा—और कंगन ?

सुमन—यह मुझे कल सर्राफे मे दिखायी दिया। मैंने बहूजी के हाथों में इसे देखा था, पहचान गई; तुरन्त वहाँ से उठा लायी।

शर्मा—सर्राफ का नाम बता सकती हो ?

सुमन—नहीं, वचन दे आयी हूँ। यह कहकर सुमन चली गयी। शर्माजी कुछ देर तक तो बैठे रहे, फिर बेंच पर लेट गये। सुमन का एक-एक शब्द उनके कानों में गूँज रहा था। उन्हें अपने व्यवहार पर, आचार-विचार पर, अपने कर्तव्य-पालन पर अभिमान था। आज वह अभिमान चूर-चूर हो गया। जिस अपराध को उन्होने पहले गजाधर और विट्ठलदास के सिर मढ़कर अपने को संतुष्ट किया था, वही आज सौगुने बोझ के साथ उनके सिर पर लद गया! विचार तीव्र होकर मूर्तिमान् हो जाता है। कहीं बहुत दूर से उनके कान मे आवाज आयी, वह जलसा न होता तो आज मै अपने झोपड़े मे मग्न होती। इतने में हवा चली, पत्तियाँ हिलने लगीं, मानो वृक्ष अपने काले, भयंकर सिरों को हिला-हिलाकर कहते थे, सुमन की यह दुर्गति तुमने की है!

शर्माजी घबराकर उठे। देर हो गयी थी। सामने गिरजाघर का ऊँचा शिखर था। उसमें घण्टा बज रहा था। घण्टे की सुरीली ध्वनि कह रही थी, सुमन की यह दुर्गति तुमने की!

शर्माजी ने बलपूर्वक विचारों को समेटकर आगे कदम बढ़ाया, आकाश पर दृष्टि पड़ी। काले पटल पर उज्ज्वल दिव्य अक्षरों में लिखा हुआ था, सुमन की यह दुर्गति तुमने की!

जैसे किसी चटैल मैदान में सामने से उमड़ी हुई काली घटाओं को देखकर मुसाफिर दूर के अकेले वृक्ष की ओर सवेग चलता है उसी प्रकार शर्माजी लम्बे-लम्बे पग धरते हुए उस पार्क से आबादी की तरफ चले, किन्तु विचार-चित्र को कहाँ छोड़ते? सुमन उनके पीछे-पीछे आती थी, कभी सामने आकर रास्ता रोक लेती और कहती, मेरी यह दुर्गति तुमने की है! कभी इस तरफ से, कभी उस तरफ से निकल आती और यही शब्द दुहराती। शर्माजी ने बड़ी कठिनाई से उतना रास्ता तै किया, घर आये और कमरे में मुँह ढाँककर पड़े रहे। सुभद्रा ने भोजन करने के लिए आग्रह किया तो उसे सिर-दर्द का बहाना करके टाला। सारी रात सुमन उनके हृदय में बैठी हुई उन्हें कोसती रही, तुम विद्वान् बनते हो, तुमको अपने बुद्धि-विवेक पर घमंड है, लेकिन तुम फूस के झोपड़ों के पास बारूद की हवाई फुलझड़ियाँ छोड़ते हो। अगर तुम अपना धन फूँकना चाहते हो तो जाकर मैदान में फूँको, गरीब दुखियों का घर क्यों जलाते हो?

प्रातःकाल शर्माजी विट्ठलदास के घर जा पहुँचे।

१८

सुभद्रा को संध्या के समय कंगन की याद आयी। लपकी हुई स्नानघर में गई। उसे खूब याद था कि उसने यहीं ताक पर रख दिया था, लेकिन उसका वहाँ पता न था। इसपर वह घबरायी। अपने कमरे के प्रत्येक ताक और आलमारी को देखा, रसोई के कमरे में जाकर चारों ओर ढूँढ़ा। लेकिन कुछ पता न चला। अन्त में निराश होकर चारपाई पर लेट गयी। उसने सदन को स्नान-गृह में जाते देखा था, शंका हुई कि उसी ने हँसी में छिपाकर रखा हो, लेकिन उससे पूछने की हिम्मत न पड़ी। सोचा, शर्माजी घूमकर खाना खाने आयें तो उनसे कहूँगी। ज्योंही शर्माजी घर में आये, सुभद्रा ने उनसे रिपोर्ट की। शर्माजी ने कहा, अच्छी तरह देखो,

घर ही में होगा, ले कौन जायगा ?

सुभद्रा—घर की एक-एक अंगुल जमीन छान डाली।

शर्माजी—नौकरों से पूछा।

सुभद्रा—सबसे पूछा, दोनों कसम खाते हैं, मुझे खूब याद है कि मैंने उसे नहाने के कमरे में ताक पर रख दिया था।

शर्माजी—तो क्या उसके पर लगे थे जो आप-ही-आप उड़ गया ?

सुभद्रा—कहो तो सदन से पूछूँ ? मैंने उसे उस कमरे मे जाते देखा था, शायद दिल्लगी के लिए छिपा रखा हो।

शर्मा—तुम्हारी भी क्या समझ है ? उसने छिपाया होता तो कह न देता ?

सुभद्रा—तो पूछने में हर्ज ही क्या है ? सोचता हो कि खूब हैरान करके बताऊँ।

शर्मा—हर्ज क्यों नहीं है। कहीं उसने न देखा हो तो समझेगा, मुझे चोरी लगाती हैं।

सुभद्रा—तुम्हारे जैसा दिल कहाँ से लाऊँ ? ढाढ़स तो हो जायगी ?

शर्मा—चाहे जो कुछ हो, उससे कदापि न पूछना।

सुभद्रा उस समय तो चुप हो गयी, लेकिन जब रात को चचा-भतीजे भोजन करने बैठे तो उससे न रहा गया। सदन से बोली—लाला, मेरा कंगन नहीं मिलता, छिपा रखा हो तो दे दो, क्यों हैरान करते हो ?

सदन के मुख का रंग उड़ गया और कलेजा काँपने लगा। चोरी करके सीनाजोरी का ढंग न जानता था। उसके मुँह में कौर था, उसे चबाना भूल गया। इस प्रकार मौन हो गया कि मानों कुछ सुना ही नहीं। शर्माजी ने सुभद्रा की ओर ऐसे आग्नेय नेत्रों से देखा कि उसका रक्त सूख गया। फिर जबान खोलने का साहस न हुआ। फिर सदन ने शीघ्रतापूर्वक दो-चार ग्रास खाये और चौके से उठ गया।

शर्माजी बोले, यह तुम्हारी क्या आदत है कि मैं जिस काम को मना करता हूँ वह अदबदा के करती हो ?

सुभद्रा—तुमने उसकी सूरत नहीं देखी ? वही ले गया है, अगर झूठ निकल जाय तो जो चोर की सजा वह मेरी।

शर्मा—अच्छा मान लिया वही ले गया हो तो ? कंगन की क्या हस्ती है, मेरा तो यह शरीर ही उसी का पाला है। वह अगर मेरी जान माँगे तो मैं खुशी से दे दूँ ! मेरा सब कुछ उसका है, वह चाहे माँगकर ले जाय, चाहे उठा ले जाय।

सुभद्रा चिढ़कर बोली, तो तुमने गुलामी लिखायी है, गुलामी करो; मेरी चीज कोई उठा ले जायगा तो मुझसे चुप न रहा जायगा।

दूसरे दिन सन्ध्या को जब शर्माजी सैर करके लौटे तो सुभद्रा उन्हें भोजन करने के लिए बुलाने गयी। उन्होंने कंगन उसके सामने फेंक दिया। सुभद्रा ने आश्चर्य से दौड़कर उठा लिया और पहचानकर बोली, मैंने कहा था न कि उन्होंने छिपाकर रखा होगा, वही बात निकली न !

शर्मा—फिर वही बे-सिर-पैर की बातें करती हो। इसे मैंने बाजार में एक सर्राफे की दूकान पर पाया है। तुमने सदन पर सन्देह करके उसे भी दुःख पहुँचाया और आपको भी कलुषित किया।

१६

विट्ठलदास को सन्देह हुआ कि सुमन ३०) मासिक स्वीकार नहीं करना चाहती, इसलिए उसने कल उत्तर देने का बहाना करके मुझे टाला है। अतएव वह दूसरे दिन उसके पास नहीं गये, इसी चिन्ता में पड़े रहे कि शेष रुपयों का प्रबन्ध कैसे हो ? कभी सोचते, दूसरे शहर में डेपुटेशन ले जाऊँ, कभी कोई नाटक खेलने का विचार करते। अगर उनका वश चलता तो इस शहर के सारे बड़े-बड़े धनाढ्य पुरुषों को जहाज में भरकर कालेपानी भेज देते। वह इसी संकल्प-विकल्प में पड़े हुए थे कि सुमन के पास चलूँ या न चलूँ, इतने में पंडित पद्मसिंह आते हुए दिखायी दिये। आँखें चढ़ी हुईं लाल; और बदन मलिन था। ज्ञात होता था कि सारी रात के जागे हैं। चिन्ता और ग्लानि की मूर्ति बने हुए थे। तीन महीने से विट्ठलदास उनके पास नहीं गये थे, उनकी ओर से हृदय फट गया था।

लेकिन शर्माजी की यह दशा देखते ही पिघल गये और प्रेम से हाथ मिलाकर बोले, भाई साहब उदास दिखायी देते हो, कुशल तो है ?

शर्मा—जी हाँ, सब कुशल ही है, इधर महीनों से आपसे भेंट नहीं हुई, मिलने को जी चाहता था। सुमन के विषय में क्या निश्चय किया ?

विट्ठल—उसी चिन्ता में तो रात-दिन पड़ा रहता हूँ। इतना बड़ा शहर है पर ३०) मासिक का प्रबन्ध नहीं हो सकता। अभी तक केवल १०) का प्रबन्ध हो सका है ! जितने रईस हैं सब-के-सब पाषाण हृदय। अजी, रईसो की बात तो न्यारी रही, मि० प्रभाकर राव ने भी कोरा जवाब दिया। उनके लेखों को पढ़ो तो मालूम होता है कि देशानुराग और दया के सागर हैं, लेकिन इस जातीय काम से साफ निकल गये। अजी, और लोग जरा सकुचाते तो हैं, उन्होंने तो उल्टे मुझी को आड़े हाथों लिया।

शर्माजी—आपको निश्चय है कि सुमन बाई ५०) पर विधवाश्रम में चली आयेंगी ?

विट्ठल—हाँ, मुझे निश्चय है, यह दूसरी बात है कि आश्रम की कमेटी उसे पसन्द न करे। तब कोई और प्रबन्ध करूँगा।

शर्मा—अच्छा तो लीजिए, आपकी चिन्ताओं का अन्त किये देता हूँ, ५०) मासिक देने पर तैयार हूँ और ईश्वर ने चाहा तो आजन्म देता रहूँगा।

विट्ठलदास ने विस्मय से शर्माजी तरफ देखा और कृतज्ञतापूर्वक उनके गले लिपटकर बोले, भाई साहब, तुम धन्य हो ! इस समय तुमने वह काम किया है कि जी चाहता है, तुम्हारे पैरों पर गिरकर रोऊँ। तुमने हिन्दू-जाति की लाज रख ली और सारे लखपतियों के मुँह में कालिख लगा दी। लेकिन इतना भारी बोझ कैसे सँभालोगे ?

शर्मा—सब हो जायगा, ईश्वर कोई-न-कोई राह अवश्य निकालेंगे ही।

विट्ठल—आप अपने भतीजे को बाजार में घूमने से रोकते क्यों नहीं ?

शर्मा—मुझे क्या मालूम कहाँ घूमने जाता है। संभव है कभी-कभी बाजार की तरफ चला जाता हो, लेकिन लड़का सच्चरित्र है—इसलिए

मैंने कभी चिन्ता नहीं की।

विट्ठल—यह आपसे बड़ी भूल हुई। पहले वह चाहे जितना सच्चरित्र हो, लेकिन आजकल उसके रंग अच्छे नहीं हैं। मैंने उसे एक बार नहीं, कई बार वहाँ देखा है, जहाँ न देखना चाहिए था। सुमन बाई के प्रेमजाल में पड़ा हुआ मालूम होता है।

शर्माजी के होश उड़ गये। बोले, यह तो आपने बुरी खबर सुनायी। वह मेरे कुल का दीपक है, अगर वह कुपथ पर चला तो मेरे जान पर ही बन जायगी। मैं शरम के मारे भाई साहब को मुँह न दिखा सकूँगा।

यह कहते-कहते शर्माजी की आँखें सजल हो गयीं। फिर बोले, महाशय, उसे किसी तरह समझाइए।

विट्ठल—उसे सीधे मार्ग पर लाने के लिए उद्योग किया जायगा। मुझे आज तक मालूम ही न था कि वह आपका भतीजा है। मैं आज ही इस काम पर उतारू हो जाऊँगा और सुमन कलतक वहाँ से चली आयी तो वह आप ही सँभल जायगा।

शर्मा—सुमन के चले आने से बाजार थोड़े ही खाली हो जायगा। किसी दूसरी के पंजे में फँस जायगा। क्या करूँ, उसे घर भेज दूँ?

विट्ठल—वहाँ अब वह रह चुका। पहले तो जायगा ही नहीं, और गया भी तो दूसरे ही दिन भागेगा। यौवन काल की दुर्वासनाएँ बड़ी प्रबल होती हैं। कुछ नहीं, यह सब इसी कुप्रथा की करामात है, जिसने नगर के सार्वजनिक स्थानों को अपना कार्यक्षेत्र बना रखा है।

शर्मा—आपने इस विषय में कुछ आन्दोलन तो किया था।

विट्ठल—हाँ, किया तो था लेकिन जिस प्रकार आप एक बार मौखिक सहानुभूति प्रकट करके मौन साध गये, उसी प्रकार अन्य सहायकों ने भी आना-कानी की, तो भाई अकेला चना तो भाड़ नहीं फोड़ सकता? मेरे पास न धन है न ऐश्वर्य है, न उच्च उपाधियाँ हैं, मेरी कौन सुनता है! लोग समझते हैं, बक्की है! नगर में इतने सुयोग्य विद्वान् पुरुष चैन से सुख भोग कर रहे हैं, कोई भूल कर भी मेरी नहीं सुनता।

शर्माजी शिथिल प्रकृति के मनुष्य थे। उन्हें कर्तव्य क्षेत्र में लाने के लिए किसी प्रबल उत्तेजना की आवश्यकता थी। जागते हुए आलसियों में से थे। कई बार जातीय पुकार की ध्वनि उनके कानो में आयी थी किन्तु वे सुनकर भी न उठे थे। इस समय जो पुकार उनके कानों में पहुँच रही थी उसने उन्हें बलात् उठा दिया। अपने भतीजे को, जिसे वह पुत्र से भी बढ़कर प्यार करते थे, कुमार्ग से बचाने के लिए, अपने भाई की अप्रसन्नता का निवारण करने के लिए वे सब कुछ कर सकते थे। जिस कुव्यवस्था का ऐसा भयंकर परिणाम हुआ, उसके मूलोच्छेदन पर कटिवद्ध होने के लिए अन्य प्रमाणों की जरूरत न थी। प्रत्यक्ष उदाहरण से प्रबल और कोई प्रमाण नहीं होता। शर्माजी बोले—यदि मैं आपके किसी काम आ सकूँ तो आपकी सहायता करने को तैयार हूँ।

विठ्ठलदास उल्लसित होकर बोले, भाई साहब, अगर तुम मेरा हाथ बँटाओ तो मैं धरती और आकाश एक कर दूँगा। लेकिन क्षमा करना, तुम्हारे संकल्प दृढ़ नहीं होते। अभी यों कहते हो, कल ही उदासीन हो जाओगे। ऐसे कामों में धैर्य की बड़ी जरूरत है।

शर्माजी लज्जित होकर बोले, ईश्वर चाहेगा तो अबकी आपको इसकी शिकायत न रहेगी।

विठ्ठल—तब तो हमारा सफल होना निश्चित है।

शर्मा—आप मुझे सँभाले रहिएगा।

विठ्ठल—अच्छा, तो अब मेरे उद्देश्य भी सुन लीजिए। मेरा पहला उद्देश्य है कि वेश्याओं को सार्वजनिक स्थानों से हटाना और दूसरा, वेश्याओं के नाचने-गाने की रस्म को मिटाना। आप मुझसे सहमत हैं या नहीं?

शर्मा—क्या अब भी कोई संदेह हैं?

विठ्ठल—नाच के विषय में आप के वह विचार तो नहीं है?

शर्मा—अब क्या एक घर जलाकर भी वही खेल खेलता रहूँगा? मुझे अब यह निश्चय हो गया है कि मेरे उसी जलसे ने सुमनबाई को घर से निकाला? लेकिन यहाँ मुझे एक शंका होती है। आखिर हम लोगों ने भी

तो शहरों ही में इतना जीवन व्यतीत किया है, हम लोग इन दुर्वासनाओं में क्यों नहीं पड़े ? नाच भी शहर में आये दिन हुआ ही करते हैं, लेकिन उनका ऐसा भीषण परिणाम होते बहुत कम देखा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस विषय में मनुष्य का स्वभाव ही प्रधान है। आप इस आन्दोलन से स्वभाव तो नहीं बादल सकते !

विट्ठल—हमारा यह उद्देश्य ही नहीं, हम तो केवल उन दशाओं का संशोधन करना चाहते हैं जो दुर्बल स्वभाव के अनुकूल हैं, और कुछ नहीं चाहते। हम और आप जैसे मनुष्य क्या दुर्व्यसन में पड़ेंगे, जिन्हें पेट के धन्धों से कभी छुट्टी ही नहीं मिली, जिन्हें कभी यह विश्वास ही नहीं हुआ कि प्रेम की मंडी में उनकी आवभगत होगी। वहाँ तो वह फँसते हैं जो धनी हैं, रूपवान् हैं, उदार हैं, रसिक हैं। स्त्रियों को अगर ईश्वर सुन्दरता दे तो धन से वंचित न रखे। धनहीन, सुन्दर, चतुर स्त्री पर दुर्व्यसन का मन्त्र शीघ्र ही चल जाता है।

सुमन पार्क से लौटी तो उसे खेद होने लगा कि मैंने शर्माजी को वे जी दुखानेवाली बातें क्यों कहीं ? उन्होंने इतनी उदारता से मेरी सहायता की, जिसका मैंने यह बदला दिया। वास्तव में मैंने अपनी दुर्बलता का अपराध उनके सिर मढ़ा। जिसने मुझे इस अन्धकार से निकालने के लिए हाथ बढ़ाया, उसी का मैंने इतना अपमान किया। मुझे मन में कितना कृतघ्न समझेंगे। वे मुझे देखते ही कैसे भागे। चाहिए तो यह था कि मैं लज्जा से वहीं गड़ जाती, लेकिन मैंने इस पाप भय के लिए इतनी निर्लजता से उनका तिरस्कार किया।

रात-भर वह इन्हीं विचारों में डूबी रही। मन में निश्चय कर लिया कि प्रातःकाल विट्ठलदास के पास चलूँगी और उनसे कहूँगी कि मुझे आश्रय दीजिये। मैं आपसे कोई सहायता नहीं चाहती, केवल एक सुरक्षित स्थान चाहती हूँ। चक्की पीसूँगी कपड़े सीऊँगी- और किसी तरह अपना निर्वाह कर लूँगी।

सबेरा हुआ। वह उठी और विट्ठलदास के घर चलने की तैयारी करने

लगी कि इतने में वह स्वयं आ पहुँचे। सुमन को ऐसा आनन्द हुआ जैसे किसी भक्त को आराध्यदेव के दर्शन से होता है। बोली, आइए महाशय! मैं तो कल दिन भर आपकी राह देखती रही, इस समय आपके यहाँ जाने का विचार कर रही थी। आपने मेरे रहने का कोई प्रबन्ध किया?

विठ्ठल—मुझसे तो कुछ नहीं हो सका, लेकिन पद्मसिंह ने लाज रख ली। उन्होंने तुम्हारा प्रण पूरा कर दिया। वह अभी मेरे पास आये थे और वचन दे गये हैं कि तुम्हें ५०) मासिक आजन्म देते रहेंगे।

सुमन के विस्मयपूर्ण नेत्र सजल हो गये। शर्माजी की इस महती उदारता ने उसके अन्तःकरण को भक्ति, श्रद्धा और विमल प्रेम से प्लावित कर दिया। उसे अपने कटु वाक्यों पर अत्यन्त क्षोभ हुआ। बोली, शर्माजी दया और धर्म के सागर हैं। इस जीवन में उनसे उऋण नहीं हो सकती। ईश्वर उन्हें सदैव सुखी रखें। लेकिन मैंने उस समय जो कुछ कहा था, वह केवल परीक्षा के लिए था। मैं देखना चाहती थी कि सचमुच मुझे उबारना चाहते हैं या केवल धर्म का शिष्टाचार कर रहे हैं। अब मुझे विदित हो गया कि आप दोनों सज्जन देवरूप हैं। आप लोगों को वृथा कष्ट नहीं देना चाहती। मैं सहानुभूति की भूखी थी वह मुझे मिल गयी। अब मैं अपने जीवन का भार आप लोगों पर नहीं डालूँगी। आप केवल मेरे रहने का कोई प्रबन्ध कर दें, जहाँ मैं विघ्न-बाधा से बची रह सकूँ।

विठ्ठलदास चकित हो गये। जातीय गौरव से आँखें चमक उठीं। उन्होंने सोचा, हमारे देश की पतित स्त्रियों के विचार भी ऐसे उच्च होते हैं। बोले, सुमन, तुम्हारे मुँह से ऐसे विचित्र शब्द सुनकर मुझे इस समय जो आनन्द हो रहा है, उसका वर्णन नहीं कर सकता। लेकिन रुपयों के बिना तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा?

सुमन—मैं परिश्रम करूँगी। देश में लाखों दुखियाएँ हैं, उनका ईश्वर के सिवा और कौन सहायक है? अपनी निर्लज्जता का कर आपसे न लूँगी।

विठ्ठल—वे कष्ट तुमसे सहे जायँगे?

सुमन—पहले नहीं सहे जाते थे, लेकिन अब सब कुछ सह लूँगी। यहाँ आकर मुझे मालूम हो गया कि निर्लज्जता सब कष्टों से दुस्सह है। और कष्टों से शरीर को दुःख होता है, इस कष्ट से आत्मा का संहार हो जाता है। मैं ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि उसने आप लोगों को मेरी रक्षा के लिए भेज दिया।

विट्ठल—सुमन, तुम वास्तव में विदुषी हो।

सुमन—तो मैं यहाँ से कब चलूँ?

विट्ठल—आज ही। अभी मैंने आश्रम की कमेटी में तुम्हारे रहने का प्रस्ताव नहीं किया है, लेकिन कोई हरज नहीं है, तुम वहाँ चलो, ठहरो। अगर कमेटी ने कुछ आपत्ति की तो देखा जायगा। हाँ, इतना याद रखना कि अपने विषय में किसी से कुछ मत कहना, नहीं तो विधवाओं में हलचल मच जायगी।

सुमन—आप जैसा उचित समझें करें, मैं तैयार हूँ।

विट्ठल—सन्ध्या समय चलना होगा।

विट्ठलदास के जाने के थोड़ी ही देर बाद दो वेश्याएँ सुमन से मिलने आयीं। सुमन ने कह दिया, मेरे सिर में दर्द है। सुमन अपने ही हाथ से भोजन बनाती थी। पतित होकर भी वह खान-पान में विचार करती थी। आज उसने व्रत करने का निश्चय किया था। मुक्ति के दिन कैदियों को भी भोजन अच्छा नहीं लगता।

दोपहर को धाड़ियों का गोल आ पहुँचा। सुमन ने उन्हें भी बहाना करके टाला। उसे अब उनकी सूरत से घृणा होती थी। सेठ बलभद्रदास के यहाँ से नागपुरी संतरों की एक टोकरी आयी, उसे सुमन ने तुरन्त लौटा दिया। चिम्मनलाल ने चार बजे अपनी फिटन सुमन के सैर करने को भेजी। उसने उसको भी लौटा दिया।

सुमन आज सदन से मिलने के लिए बहुत उत्कंठित थी। आज यह अन्तिम मिलाप होगा। आज यह प्रेमाभिनय समाप्त हो जायगा। वह मोहनी मूर्ति फिर देखने को न मिलेगी। उसके दर्शनों को नेत्र तरस-तरस

रहेंगे। वह सरल प्रेम से भरी हुई मधुर बातें सुनने में न आयेंगी। जीवन फिर प्रेम विहीन और नीरस हो जायगा। कलुषित सही, पर यह प्रेम सच्चा था। भगवन्! मुझे यह वियोग सहने की शक्ति दीजिए। नहीं, इस समय सदन न आये तो अच्छा है, उससे न मिलने में ही कल्याण है; कौन जाने उसके सामने मेरा संकल्प स्थिर रह सकेगा या नहीं। पर वह आ जाता तो एक बार दिल खोलकर उससे बातें कर लेगी, उसे इस कपट सागर में डूबने से बचाने की चेष्टा करती।

सात बज गये, लेकिन सदन न आया। आठ बजे तक सुमन उनकी राह देखती रही, अन्त को वह निराश हो गयी। जब से वह यहाँ आने लगा आज ही उसने नागा किया। सुमन को ऐसा मालूम होता था मानो वह किसी निर्जन स्थान में खो गयी है। हृदय में एक अत्यन्त तीव्र किन्तु सरल, वेदना-पूर्ण किन्तु मनोहारी आकांक्षा का उद्वेग हो रहा था। मन पूछता था, उसके न आने का क्या कारण है? किसी अनिष्ट की आशंका ने उसे बेचैन कर दिया।

इतने में सुमन ने विट्ठलदास को एक किराये की गाड़ी में से उतरते देखा। उसका हृदय वेग से धड़कने लगा।

एक क्षण में विठ्ठलदास ऊपर आ गये और बोले, अरे, अभी तुमने कुछ तैयारी नहीं की—बिस्तरे तक नहीं बँधे?

सुमन—यहाँ की कोई वस्तु साथ न ले जाऊँगी, यह वास्तव में मेरा पुनर्जन्म हो रहा है।

विठ्ठल—यह सामान क्या होंगे?

सुमन—आप इसे बेचकर किसी शुभ कार्य में लगा दीजिएगा।

विठ्ठल—अच्छी बात है, मैं यहाँ ताला डाल दूँगा। तो अब उठो, गाड़ी मौजूद है।

थोड़ी देर बाद सुमन ऊपर से उतरी। वह केवल एक उजली साड़ी पहने थी, हाथों में चूड़ियाँ तक न थीं। उसका मुख उदास था, लेकिन इसलिए नहीं कि यह भोग-विलास अब उससे छूट रहा है, वरन् इसलिए

कि वह इस अग्निकुण्ड में गिरी क्यों थी। इस उदासीनता में मलिनता न थी, वरन् एक प्रकार का संयम था; यह किसी मदिरा-सेवी के मुख पर छानेवाली उदासी नहीं थी, बल्कि उसमें त्याग और विचार आभासित हो रहा था।

विट्ठलदास ने मकान में ताला डाल दिया और गाड़ी के कोचबक्स पर जा बैठे। गाड़ी चली।

बाजारों की दूकानें बन्द थीं, लेकिन रास्ता चल रहा था। सुमन ने खिड़की से झाँककर देखा। उसे आगे लालटेनों की एक सुन्दर माला दिखायी दी, लेकिन ज्यों-ज्यों गाड़ी बढ़ती थी, त्यों-त्यों वह प्रकाशमाला भी आगे बढ़ती जाती थी। थोड़ी-थोड़ी दूर पर लालटेनें मिलती थीं पर वह ज्योतिर्माला अभिलाषाओं के सदृश दूर भागती जाती थी।

गाड़ी वेग से जा रही थी। सुमन का भावी जीवनयान् भी विचार सागर में वेग के साथ हिलता, डगमगाता, तारों के ज्योतिर्जाल में उलझता चला जाता था।

२०

सदन प्रातःकाल घर में गया तो अपनी चाची के हाथ में कंगन देखा। लज्जा से उसकी आँखें जमीन में गड़ गयीं। नाश्ता करके जल्दी से बाहर निकल आया और सोचने लगा, यह कंगन इन्हें कैसे मिल गया?

क्या यह सम्भव है कि सुमन ने उसे यहाँ भेज दिया हो? वह क्या जानती है कि कंगन किसका है? मैंने तो उसे अपना पता भी नहीं बताया। यह हो सकता है कि यह उसी नमूने का दूसरा कगन हो, लेकिन इतनी जल्द वह तैयार नहीं हो सकता। सुमन ने अवश्य ही मेरा पता लगा लिया है और चाची के पास यह कंगन भेज दिया है।

सदन ने बहुत विचार किया। किन्तु हर प्रकार से वह इसी परिणाम पर पहुँचता था। उसने फिर सोचा। अच्छा मान लिया जाय कि उसे मेरा पता मालूम हो गया तो क्या उसे यह उचित था कि वह मेरी दी हुई चीज को यहाँ भेज देती? यह तो एक प्रकार का विश्वासघात है।

अगर सुमन ने मेरा पता लगा लिया है तब वह मुझे मन में धूर्त, पाखंडी, जालिया समझती होगी! कंगन को चाची के पास भेजकर उसने यह भी साबित कर दिया कि वह मुझे चोर भी समझती है।

आज सन्ध्या समय सदन को सुमन के पास जाने का साहस न हुआ। चोर-दगाबाज बनकर उसके पास कैसे जाय? उसका चित्त खिन्न था। घर पर बैठना बुरा मालूम होता था। उसने यह सब सहा, पर सुमन के पास न जा सका।

इसी भाँति एक सप्ताह बीत गया। सुमन से मिलने की उत्कंठा नित्य प्रबल होती जाती थी। और शंकाएँ इस उत्कंठा के नीचे दबती जाती थीं। सन्ध्या समय उसकी दशा उन्मत्तों की-सी हो जाती। जैसे बीमारी के बाद मनुष्य का चित्त उदास रहता है, किसी से बातें करने को जी नहीं चाहता, उठना-बैठना पहाड़ हो जाता है, जहाँ बैठता है वहीं का हो जाता है, वही दशा इस समय सदन की थी।

अन्त को वह अधीर हो गया। आठवें दिन वह सुमन से मिलने चला। उसने निश्चय कर लिया था कि आज चलकर उससे अपना सारा कच्चा चिट्ठा बयान कर दूँगा। जिससे प्रेम हो गया, उससे अब छिपाना कैसा! हाथ जोड़कर कहूँगा, सरकार बुरा हूँ तो, भला हूँ तो, अब आपका सेवक हूँ। चाहे जो दण्ड दो, सिर तुम्हारे सामने झुका हुआ है। चोरी की, चाहे दगा किया, सब तुम्हारे प्रेम के निमित्त किया, अब क्षमा करो।

विषयवासना नीति, ज्ञान और संकोच किसी के रोके नहीं रुकती। नशे में हम सब बेसुध हो जाते हैं।

वह व्याकुल होकर पाँच ही बजे निकल पड़ा और घूमता हुआ नदी के तट पर आ पहुँचा। शीतल, मन्द वायु उसके तपते हुए शरीर को अत्यन्त सुखद मालूम होती थी और जल की निर्मल श्यामवर्ण धारा में रह-रहकर उछलती हुई मछलियाँ ऐसी मालूम होती थीं, मानो किसी सुंदरी के चंचल नयन महीन घूँघट से चमकते हो।

सदन करार पर बैठ गया और इस मनोहर दृश्य को देखने में मग्न

हो गया। अकस्मात् उसने एक जटाधारी साधु को पेड़ों की आड़ में अपनी तरफ आते देखा। उसके गले में रुद्राक्ष की माला थी और नेत्र लाल थे। ज्ञान और योग की प्रतिभा की जगह उसके मुख से एक प्रकार की सरलता और दया प्रकट होती थी। उसे अपने निकट देखकर सदन ने उठकर उसका सत्कार किया।

साधु ने इस ढग से उसका हाथ पकड़ लिया, मानों उससे परिचय है? और बोला, सदन, मैं कई दिन से तुमसे मिलना चाहता था। तुम्हारे हित की एक बात कहना चाहता हूँ। तुम सुमनबाई के पास जाना छोड़ दो, नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। तुम नहीं जानते वह कौन है? प्रेम के नशे में तुम्हें उसके दूषण नहीं दिखायी देते। तुम समझते हो कि वह तुमसे प्रेम करती है। किन्तु यह तुम्हारी भूल है। जिसने अपने पति को त्याग दिया वह दूसरों से क्या प्रेम निभा सकती है? तुम इस समय वहीं जा रहे हा। साधु का वचन मानो, घर लौट जाओ, इसी में तुम्हारा कल्याण है।

यह कहकर वह महात्मा जिधर से आये थे उधर ही चल दिये और इससे पूर्व कि सदन उनसे कुछ जिज्ञासा करने के लिए सावधान हो सके वह आँखों से ओझल हो गये।

सदन सोचने लगा, यह महात्मा कौन हैं? यह मुझे कैसे जानते हैं? मेरे गुप्त रहस्यों का इन्हें कैसे ज्ञान हुआ? कुछ उस स्थान की नीरवता, कुछ अपने चित्त की स्थिति, कुछ महात्मा के आकस्मिक आगमन और उनकी अन्तर्दृष्टि ने उनकी बातों को आकाशवाणी के तुल्य बना दिया। सदन के मन में किसी भावी अमंगल की आशंका उत्पन्न हो गयी। उसे सुमन के पास जाने का साहस न हुआ। इस आश्चर्यजनक घटना की विवेचना करता वह घर की तरफ चल दिया।

जब से सुभद्रा ने सदन पर अपने कंगन के विषय में सन्देह किया था तब से पद्मसिंह उससे रुष्ट हो गये थे। इसलिए सुभद्रा का यहाँ अब जी न लगता था। शर्माजी भी इसी फिक्र में थे कि सदन को किसी तरह यहाँ से

घर भेज दूँ। अब सदन का चित्त भी यहाँ से उचाट हो रहा था। वह भी घर जाना चाहता था, लेकिन कोई इस विषय में मुँह न खोल सकता था। पर दूसरे ही दिन पंडित मदनसिंह के एक पत्र ने उन सबकी इच्छाएँ पूरी कर दीं। उसमें लिखा, सदन के विवाह की बातचीत हो रही है। सदन को बहू के साथ तुरन्त भेज दो।

सुभद्रा यह सूचना पाकर बहुत प्रसन्न हुई। सोचने लगी, महीने-दो-महीने चहल-पहल रहेगी, गाना बजाना होगा, चैन से दिन कटेंगे। इस उल्लास को मन में छिपा न सकी। शर्माजी उसकी निष्ठुरता देखकर और भी उदास हो गये। मन में कहा, इसे अपने आनन्द के आगे मेरा कुछ भी ध्यान नहीं है। एक या दो महीनों में फिर मिलाप होगा, लेकिन यह कैसी खुश है!

सदन ने भी चलने की तैयारी कर दी। शर्माजी ने सोचा था कि वह अवश्य हीलाहवाला करेगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

दो बजे दिन को गाड़ी जाती थी। इसलिए शर्माजी कचहरी न गये। कई बार प्रेम से विवश होकर घर में गये। लेकिन सुभद्रा को उनसे बातचीत करने की फुरसत कहाँ! वह अपने गहने-कपड़े और माँग-चोटी में मग्न थी। यहाँ तक कि एक बज गया। जीतन ने गाड़ी लाकर द्वार पर खड़ी कर दी। सदन ने अपने ट्रंक और बिस्तर आदि रख दिये। सुभद्रा की आँखों में आँसू भर आये। शर्माजी ने सुभद्रा के आँसू पोंछे, गले से लगाया और लाकर गाड़ी में बैठा दिया।

स्टेशन पर पहुँचे, गाड़ी छूटने ही वाली थी, सदन दौड़कर गाड़ी में जा बैठा, सुभद्रा बैठने भी न पायी थी कि गाड़ी छूट गयी। वह खिड़की पर खड़ी शर्माजी को ताकती रही और जब तक वह आँखों से ओझल न हुए वह खिड़की पर से न हटी।

सन्ध्या समय गाड़ी ठिकाने पर पहुँची। मदनसिंह पालकी और घोड़ा लिए स्टेशन पर मौजूद थे। सदन ने दौड़कर पिता के चरण स्पर्श किये।

ज्यों-ज्यों गाँव निकट आता था, सदन की व्यग्रता बढ़ती जाती थी;

जब गाँव आधी मील रह गया और धान के खेत की मेड़ों पर घोड़े को दौड़ाना कठिन जान पड़ा तो वह उतर पड़ा और वेग के साथ गाँव की तरफ चला। आज उसे अपना गाँव बहुत सुनसान मालूम होता था। सूर्यास्त अस्त हो गया था। किसान बैलों को हाँकते खेतों से चले आते थे। सदन किसी से कुछ न बोल, सीधे अपने घर में चला गया और माता के चरण छुए। माता ने छाती से लगाकर आशीर्वाद दिया।

भामा—वे कहाँ रह गयीं ?

सदन—आती हैं, मैं सीधे खेतों में से चला आया।

भामा—चाचा-चाची से जी भर गया न ?

सदन—क्यों ?

भामा—यह तो चेहरा ही कहे देता है।

सदन—वाह, मैं तो मोटा हो गया हूँ।

भामा—चल झूठे, चाची ने दानों को तरसा दिया होगा।

सदन—चाची ऐसी नहीं हैं। यहाँ से मुझे बहुत आराम था। वहाँ दूध अच्छा मिलता था।

भामा—तो रुपये क्यों माँगते थे ?

सदन—तुम्हारे प्रेम की थाह ले रहा था। इतने दिन में तुमसे २५) ही लिए न ? चाचा से सात सौ ले चुका। रेशमी कपड़े बनवाये, शहर में रईस बना घूमता था। सवेरे चाची ताजा हलवा बना देती थीं। उस पर सेर भर दूध, तीसरे पहर मेवे और मिठाइयाँ। मैंने वहाँ जो चैन किया वह कभी न भूलूँगा। मैंने भी सोचा कि अपनी कमाई में तो चैन कर चुका, इस अवसर पर क्यों चूकूँ. सभी शौक पूरे कर लिए।

भामा को ऐसा अनुमान हुआ कि सदन की बातों में कुछ निरालापन आ गया है। उसमें कुछ शहरीपन आ गया है।

सदन ने अपने नागरिक जीवन का उस उत्साह से वर्णन किया जो युवाकाल का गुण है।

सरला भामा का हृदय सुभद्रा की ओर से निर्मल हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल गाँव के मान्य पुरुष निमन्त्रित हुए और उनके सामने सदन का फलदान चढ़ गया।

सदन की प्रेमलालसा इस समय ऐसी प्रबल हो रही थी कि विवाह की कड़ी धर्मबेड़ी को सामने रखकर भी वह चिन्तित न हुआ। उसे सुमन से जो प्रेम था, उसमें तृष्णा ही का आधिक्य था। सुमन उसके हृदय में रहकर भी उसके जीवन का आधार न बन सकती थी। सुमन पर उसे वह विश्वास कहाँ था जो प्रेम का प्राण है! अब वह कपट प्रेम के मायाजाल से मुक्त हो जायगा। अब उसे बहुरूप धरने की आवश्यकता नहीं। अब वह प्रेम को यथार्थ रूप में देखेगा और यथार्थ रूप में दिखायेगा। यहाँ उसे वह अमूल्य वस्तु मिलेगी जो सुमन के यहाँ किसी प्रकार नहीं मिल सकती थी। इन विचारों ने सदन को इस नये प्रेम के लिए लालायित कर दिया। अब उसे केवल यही संशय था कि कहीं वधू रूपवती न हुई तो? रूप-लावण्य प्राकृतिक गुण है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। स्वभाव एक उपार्जित गुण है; उसमें शिक्षा और सत्संग से सुधार हो सकता है। सदन ने इस विषय में ससुराल के नाई से पूछ-ताछ करने की ठानी; उसे खूब भंग पिलायी, खूब मिठाइयाँ खिलायीं। अपनी एक धोती उसको भेंट की। नाई ने नशे में आकर वधू की ऐसी लम्बी प्रशंसा की, उसके नखशिख का ऐसा चित्र खींचा कि सदन को इस विषय में कोई सन्देह न रहा। यह नखशिख सुमन से बहुत-कुछ मिलता था। अतएव सदन नवेली दुलहिन का स्वागत करने के लिए और भी उत्सुक हो गया।

२१

यह बात बिल्कुल तो सत्य नहीं है कि ईश्वर सबको किसी न किसी हीले से अन्न-वस्त्र देता है। पण्डित उमानाथ बिना किसी हीले ही के संसार का सुखभोग करते थे। उनकी आकाशी वृत्ति थी। उनके भैंस और गायें न थीं, लेकिन घर में घी-दूध की नदी बहती थी; वह खेतीबारी न करते थे लेकिन घर में अनाज की खत्तियाँ भरी रहती थीं। गाँव में कहीं मछली मरे, कहीं बकरा कटे, कहीं आम टूटे, कहीं भोज हो, उमानाथ का हिस्सा

बिना माँगे आप-ही-आप पहुँच जाता। अमोला बड़ा गाँव था। ढाई तीन हजार जनसंख्या थी। लेकिन समस्त गाँव में उनकी सम्मति के बिना कोई काम न होता था। स्त्रियों को यदि गहने बनवाने होते तो वह उमानाथ से कहतीं। लड़के-लड़कियों के विवाह उमानाथ की मार्फत तै होते। रेहन-नामे, बैनामे, दस्तावेज उमानाथ ही के परामर्श से लिखे जाते। मुआमिले-मुकदमे उन्हीं के द्वारा दायर होते और मजा यह था कि उनका यह दबाव और सम्मान उनकी सज्जनता के कारण नहीं था। गाँववालों के साथ उनका व्यवहार शुष्क और रूखा होता था। वह बेलाग बात करते थे, लल्लोचप्पो करना न जानते थे, लेकिन उनके कटु वाक्यों को लोग दूध के समान पीते थे। मालूम नहीं, उनके स्वभाव में क्या जादू था। कोई कहता था यह उनका इकबाल है, कोई कहता था इन्हें महावीर का इष्ट है। लेकिन हमारे विचार में यह उनके मानव-स्वभाव के ज्ञान का फल था। वह जानते थे कि कहाँ झुकना और कहाँ तनना चाहिए। गाँववालों से तनने में अपना काम सिद्ध होता था, अधिकारियों से झुकने मे। थाने और तहसील के अमले, चपरासी से लेकर तहसीलदार तक, सभी उन पर कृपादृष्टि रखते थे। तहसीलदार साहब के लिए वह वर्षफल बनाते, डिप्टी साहब को भावी उन्नति की सूचना देते। कानूनगो और कुर्कअमीन उनके द्वार पर बिना बुलाये मेहमान बने रहते। किसी को मन्त्र देते, किसी को भगवद्‌गीता सुनाते और जिन लोगों की श्रद्धा इन बातों पर न थी, उन्हें मीठे अचार और नवरत्न की चटनी खिलाकर प्रसन्न रखते। थानेदार साहब उन्हें अपना दाहिना हाथ समझते थे। जहाँ ऐसे उनकी दाल न गलती वहाँ पण्डितजी की बदौलत पाँचों उँगली घी में हो जातीं। भला ऐसे पुरुष की गाँववाले क्यों न पूजा करते?

उमानाथ को अपनी बहन गंगाजली से बहुत प्रेम था, लेकिन गंगाजली को मैके आने के थोड़े ही दिनों पीछे ज्ञात हुआ कि भाई का प्रेम भावज की अवज्ञा के सामने नहीं ठहर सकता। उमानाथ बहिन को अब घर लाने पर मन में बहुत पछताते। वे अपनी स्त्री को प्रसन्न रखने के

लिए ऊपरी मन से उसकी हाँ-में-हाँ मिला दिया करते। गंगाजली को साफ कपड़े पहनने का क्या अधिकार है? शान्ता का पालन पहले चाहे कितने ही लाड़-प्यार से हुआ हो, अब उसे उमानाथ की लड़कियों से बराबरी करने का क्या अधिकार है? उमानाथ स्त्री की इन द्वेषपूर्ण बातों को सुनते और उनका अनुमोदन करते। गंगाजली को जब क्रोध आता तो वह उसे अपने भाई ही पर उतारती। वह समझती थी कि वे अपनी स्त्री को बढ़ावा देकर मेरी दुर्गति करा रहे हैं। ये अगर उसे डाँट देते तो मजाल थी कि वह यों मेरे पीछे पड़ जाती? उमानाथ को जब अवसर मिलता तो वह गंगाजली को एकान्त में समझा दिया करते। किन्तु एक तो जाह्नवी उन्हें ऐसे अवसर मिलने ही न देती, दूसरे गंगाजली को भी उनकी सहानुभूति पर विश्वास न आता।

इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। गंगाजली चिन्ता, शोक और निराशा से बीमार पड़ गयी। उसे बुखार आने लगा। अवस्था दिनोंदिन बिगड़ने लगी। यहाँ तक कि उसे ज्वरातिसार हो गया। जीने की आशा न रही। जिस उदर में सागू के पचाने की भी शक्ति न थी, वह जौ की रोटियाँ कैसे पचाता? निदान उसका जर्जर शरीर इन कष्टों को और अधिक न सह सका। छः मास बीमार रहकर वह दुखिया अकाल मृत्यु का ग्रास बन गयी।

शान्ता का अब संसार में कोई न था। सुमन के पास उसने दो पत्र लिखे; लेकिन वहाँ से कोई जवाब न पाया। शान्ता ने समझा, बहन ने भी नाता तोड़ दिया। विपत्ति में कौन साथी होता है? जब तक गंगाजली जीती थी शान्ता उसके अञ्चल में मुँह छिपाकर रो लिया करती थी। अब यह अवलम्बन भी न रहा। अन्धे के हाथ से लकड़ी जाती रही। शान्ता जब-तब अपनी कोठरी के कोने में मुँह छिपाकर रोती; लेकिन घर के कोने और माता के अञ्चल में बड़ा अन्तर है। एक शीतल जल का सागर है, दूसरा मरुभूमि।

शान्ता को अब शान्ति नहीं मिलती। उसका हृदय अग्नि के सदृश

दहकता रहता है, वह अपनी मामी और मामा को अपनी माता का घातक समझती है। वह निराधार होकर बलवती हो गयी है। अब वह उतनी सहनशील नहीं है; उसे जल्द क्रोध आ जाता है। वह जली-कटी बातों का बहुधा उत्तर भी दे देती है। उसने अपने हृदय को कड़ी-से-कड़ी यन्त्रणा के लिए तैयार कर लिया है। मामा से वह दबती है, लेकिन मामी से नहीं दबती और ममेरी बहिनों को तो वह तुरकी-बतुरकी जवाब देती है। अब शान्ता वह गाय है, जो हत्या-भय के बल पर दूसरे का खेत चरती है।

इस तरह एक वर्ष और बीत गया। उमानाथ ने बहुत दौड़-धूप की कि उसका विवाह कर दूँ, लेकिन जैसा सस्ता सौदा वह करना चाहते थे, वह कहीं ठीक न हुआ। उन्होंने थाने, तहसील में जोड़तोड़ लगाकर २००) का चन्दा करा लिया था। मगर इतने सस्ते वर कहाँ! जाह्नवी का वश चलता तो वह शान्ता को किसी भिखारी के गले बाँधकर अपना पिंड छुड़ा लेती, लेकिन उमानाथ ने अबकी पहली बार उसका विरोध किया और सुयोग्य वर ढूँढ़ते रहे।

२२

सार्वजनिक संस्थाएँ भी प्रतिभाशाली मनुष्यों की मुहताज होती हैं। यद्यपि विट्ठलदास के अनुयायियों की कमी न थी, लेकिन उनमें प्रायः सामान्य अवस्था के लोग थे। ऊँची श्रेणी के लोग उनसे दूर भागते थे। पद्मसिंह के सम्मिलित होते ही इस संस्था में जान पड़ गयी। नदी की पतली धार उमड़ पड़ी। बड़े आदमियों में उनकी चर्चा होने लगी। लोग उन-पर कुछ-कुछ विश्वास करने लगे।

पद्मसिंह अकेले न आये। बहुधा किसी काम को अच्छा समझकर भी हम उसमें हाथ लगाते हुए डरते हैं, नक्कू बन जाने का भय लगा रहता है। हम बड़े आदमियों के आ मिलने की राह देखा करते हैं। ज्योंही किसी ने रास्ता खोला, हमारी हिम्मत बँध जाती है, हमको हँसी का डर नहीं रहता। अकेले हम अपने घर में भी डरते हैं; दो होकर जंगलों में भी निर्भय रहते हैं। प्रोफेसर रमेशदत्त, लाला भगतराम और मिस्टर रुस्तम

भाई गुप्त रूप से विट्ठलदास की सहायता करते रहते थे। अब वह खुल पड़े। सहायकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ने लगी।

पद्मसिंह धुनी मनुष्य थे। उन्होंने बड़े उत्साह से वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थानों से निकालने के लिए आन्दोलन करना शुरू किया। म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियों में दो-चार सज्जन विट्ठलदास के भक्त भी थे। किन्तु वे इस प्रस्ताव को कार्यरूप में लाने के लिए यथेष्ट साहस न रखते थे। समस्या इतनी जटिल थी कि उसकी कल्पना ही लोगों को भयभीत कर देती थी। वे सोचते थे कि इस प्रस्ताव को उठाने से न मालूम शहर में क्या हलचल मचे, शहर के कितने रईस, कितने ही राज्यपदाधिकारी, कितने ही सौदागर इस प्रेम-मण्डी से सम्बन्ध रखते थे। कोई ग्राहक था, कोई पारखी, उन सबसे बैर मोल लेने का कौन साहस करता? म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी उनके हाथों में कठपुतली के समान थे।

पद्मसिंह ने मेम्बरों से मिल-मिलाकर उनका ध्यान इस प्रस्ताव की ओर आकर्षित किया। प्रभाकरराव की तीव्र लेखनी ने उनकी बड़ी सहायता की। पैम्फलेट निकाले गये और जनता को जागृत करने के लिए व्याख्यानों का क्रम बाँधा गया। रमेशदत्त और पद्मसिंह इस विषय में निपुण थे। इसका भार उन्होंने अपने सिर ले लिया। आन्दोलन ने एक नियमित रूप धारण किया।

पद्मसिंह ने यह प्रस्ताव उठा तो दिया, लेकिन वह इस पर जितना ही विचार करते थे, उतने ही अन्धकार में पड़ जाते। उन्हें यह विश्वास न होता था कि वेश्याओं के निर्वाचन से आशातीत उपकार हो सकेगा। संभव है, उपकार के बदले अपकार हो। बुराइयों का मुख्य उपचार मनुष्य का सद्ज्ञान है। इसके बिना कोई उपाय सफल नहीं हो सकता। कभी-कभी वह सोचते-सोचते हताश हो जाते। लेकिन इस पक्ष के एक सभ्य बनकर वे आप सन्देह रखते हुए भी दूसरों पर इसे प्रकट न करते थे।

आन्दोलन दिनों-दिन बढ़ता जाता था। यह सफलता शर्माजी के अनुराग और विश्वास से कुछ कम उत्साहवर्धक न थी।

सदनसिंह के विवाह को अभी दो मास थे। घर की चिन्ताओं से मुक्त होकर शर्माजी अपनी पूरी शक्ति से इस आन्दोलन में प्रवृत्त हो गये। कचहरी के काम में उनका जी न लगता। वहाँ भी वे प्रायः इन्हीं चर्चाओं में पड़े रहते। एक ही विषय पर लगातार सोचते-विचारते रहने से उस विषय से प्रेम हो जाया करता है। धीरे-धीरे शर्माजी के हृदय में प्रेम का उदय होने लगा।

लेकिन जब यह विवाह निकट आ गया तो शर्माजी का उत्साह कुछ क्षीण होने लगा। मन में यह समस्या उठी कि भैया यहाँ वेश्याओं के लिए अवश्य ही मुझे लिखेंगे, उस समय मैं क्या करूँगा ? नाच के बिना सभा सूनी रहेगी, दूर के गाँवों से लोग नाच देखने आयेंगे, नाच न देखकर उन्हें निराशा होगी, भाई साहब बुरा मानेंगे, ऐसी अवस्था में मेरा क्या कर्त्तव्य है ? भाई साहब को इस कुप्रथा से रोकना चाहिए। लेकिन क्या मैं इस दुष्कर कार्य में सफल हो सकूँगा ? बड़ों के सामने न्याय और सिद्धान्त की बातचीत असंगत-सा जान पड़ती है। भाई साहब के मन में बड़े-बड़े हौसले हैं, इन हौसलों के पूरा होने में कुछ भी कसर रही तो उन्हें दुःख होगा। लेकिन कुछ भी हो, मेरा कर्त्तव्य यही है कि अपने सिद्धान्त का पालन करूँ।

यह निश्चय करके शर्माजी बारात की सजावट के सामान जुटाने लगे। वह ऐसे आनन्दोत्सवों में किफायत करना अनुचित समझते थे। इसके साथ ही वह अन्य सामग्रियों के बाहुल्य से नाच की कसर पूरी करना चाहते थे, जिसमें उनपर किफायत का अपराध न लगे।

२३

रात के नौ बजे थे। पद्मसिंह भाई के साथ बैठे हुए विवाह के संबंध में बातचीत कर रहे थे। कल बारात जायगी। दरवाजे पर शहनाई बज रही थी और भीतर गाना हो रहा था।

मदनसिंह—तुमने जो गाड़ियाँ भेजी हैं, वह कल शाम तक अमोला पहुँच जायँगी ?

पद्मसिंह—जी नहीं, दोपहरी तक पहुँच जानी चाहिए। अमोला विन्ध्याचल के निकट है, आज मैंने दोपहर से पहले ही उन्हें रवाना कर दिया है।

मदन—तो यहाँ से क्या-क्या ले चलने की आवश्यकता होगी ?

पद्म—थोड़ा-सा खाने-पीने का सामान ले चलिए। और सब कुछ मैंने ठीक कर दिया है।

मदन—नाच कितने पर ठीक हुआ ? दो ही गरोह हैं न ?

पद्मसिंह डर रहे थे कि अब नाच की बात आया ही चाहती है। यह प्रश्न सुनकर लज्जा से उनका सिर झुक गया। कुछ दबकर बोले, नाच तो मैंने ठीक नहीं किया।

मदनसिंह चौंक पड़े, जैसे किसी ने चुटकी काट ली हो; बोले, धन्य हो महाराज ! तुमने तो डोंगा ही डुबा दिया। फिर तुमने जनवासे का क्या सामान किया है ? क्यों, फ़ुरसत ही नहीं मिली या खर्च से हिचक गये ? मैंने तो इसीलिए चार दिन पहले ही तुम्हें लिख दिया था। अगर तुमको खर्च का डर था तो मुझे साफ़-साफ़ लिखते, मैं यहाँ से भेज देता। अभी नारायण की दया से किसी का मुहताज नहीं हूँ। अब भला बताओ तो क्या प्रबन्ध हो सकता है ? मुँह में कालिख लगी कि नहीं ? एक भले-मानस के दरवाजे पर जा रहे हो, वह अपने मन में क्या कहेगा ? दूर-दूर से उसके सम्बन्धी आये होंगे, दूर-दूर के गाँवों के लोग बारात में आयेंगे, वह अपने मन में क्या कहेंगे ? राम-राम !

मुन्शी बैजनाथ गाँव के आठ आने के हिस्सेदार थे। मदनसिंह की ओर मार्मिक दृष्टि से देखकर बोले, मन में नहीं जनाब, खोल-खोलकर कहेंगे, गालियाँ देंगे। कहेंगे कि नाम बड़े दर्शन थोड़े, और सारे संसार में निन्दा होने लगेगी। नाच के बिना जनवास ही क्या ! कम-से-कम मैंने तो कभी नहीं देखा। शायद भैया को खयाल ही नहीं रहा या मुमकिन है लगन की तेजी से इन्तजाम न हो सका हो।

पद्मसिंह ने डरते हुए कहा, जी नहीं, वह बात नहीं है····आजकल

शहर में लोग नाच की प्रथा बुरी समझने लगे हैं। शिक्षित समाज में इस प्रथा का विरोध किया जा रहा है और मैं भी उसी में सम्मिलित हो गया हूँ। अपने सिद्धान्तों को तोड़ने का मुझे साहस न हुआ।

मदन—अच्छा, यह बात है! भला किसी तरह लोगों की आँखें तो खुलीं। मैं भी इस प्रथा को निन्द्य समझता हूँ, लेकिन नक्कू नहीं बनना चाहता। मेरे एक ही लड़का है, उसके विवाह में मन के सब हौसले पूरे करना चाहता हूँ। विवाह के बाद मैं भी तुम्हारा सब मत स्वीकार कर लूँगा। इस समय मुझे अपने पुराने ढंग पर चलने दो और यदि बहुत कष्ट न हो तो सवेरे की गाड़ी से चले जाओ और बीड़ा देकर उधर से ही अमोला चले जाना। तुमसे इसलिए कहता हूँ कि तुम्हें यहाँ लोग जानते हैं। दूसरे जायँगे तो लुट जायँगे।

पद्मसिंह ने सिर झुका लिया और सोचने लगे। उन्हें चुप देखकर मदनसिंह ने तेवर बदलकर कहा, चुप क्यों हो, क्या जाना नहीं चाहते?

पद्मसिंह ने अत्यंत दीन भाव से कहा—भैया, आप यदि मुझे क्षमा करें तो....

मदन—नहीं-नहीं, मैं तुम्हें मजबूर नहीं करता, नहीं जाना चाहते, तो मत जाओ। मुन्शी बैजनाथ, आपको कष्ट तो होगा, पर मेरी खातिर से आप ही जाइए।

बैजनाथ—मुझे कोई उज्र नहीं है।

पद्मसिंह अपने बड़े भाई की अप्रसन्नता के भय से दबे हुए थे। सिर उठाने का साहस नहीं होता था। एक ओर भाई की अप्रसन्नता थी, दूसरी ओर अपने सिद्धांत और न्यान का बलिदान। एक ओर अँधेरी घाटी थी, दूसरी ओर सीधी चट्टान, निकलने का कोई मार्ग न था। अन्त में उन्होंने डरते-डरते कहा, भाई साहब, आपने मेरी भूलें कितनी बार क्षमा की हैं, मेरी एक ढिठाई और क्षमा कीजिए। आप जब नाच के रिवाज को दूषित समझते हैं तो उस पर इतना जोर क्यों देते हैं?

मदनसिंह झुँझलाकर बोले, तुम तो ऐसी बातें करते हो मानों इस देश में

पैदा ही नहीं हुए, जैसे किसी अन्य देश से आये हो। एक यही क्या, कितनी कुप्रथाएँ हैं जिन्हें दूषित समझते हुए भी उनका पालन करना पड़ता है। लोक रीति पर न चलें तो लोग उँगलियाँ उठाते हैं। नाच न ले जाऊँ तो लोग यही कहेंगे कि कंजूसी के मारे नहीं लाये। मर्यादा में बट्टा लगेगा।

पद्मसिंह बोले, अच्छा, अगर इसी रुपए को किसी दूसरी उचित रीति से खर्च कर दीजिए तब तो किसी को कंजूसी की शिकायत न रहेगी। आप दो डेरे ले जाना चाहते हैं। तीन सौ से कम खर्च न पड़ेगा। आप तीन सौ की जगह पाँच सौ के कम्बल लेकर अमोला के दीन-दरिद्रों में बाँट दीजिए तो कैसा हो? यदि स्वीकार न हो तो अमोला में २००) की लागत से एक पक्का कुआँ बनवा दीजिए। इसी से चिरकाल तक आपकी कीर्ति बनी रहेगी।

मदनसिंह ने बदनामी का जो सहारा लिया था वह इन प्रस्तावों के सामने ठहर न सका। वह कोई उत्तर सोच रहे थे कि इतने में बैजनाथ बोले--भैया, हर काम के लिए एक अवसर होता है। दान के अवसर पर दान होना चाहिए, नाच के अवसर पर नाच। बे-जोड़ बात कभी भली नहीं लगती। और फिर शहर के जानकार आदमी हों तो एक बात भी है। देहात के उजड्ड जमींदारों के सामने आप कम्बल बाँटने लगेंगे तो वह आपका मुँह देखने लगेंगे और हँसेंगे।

मदनसिंह बोले, हाँ, और क्या होगा? बसन्त में मलार गानेवाले को कौन अच्छा कहेगा? कुसमय की कोई बात अच्छी नहीं होती। इसी से मैं आपसे कहता हूँ कि आप सबेरे चले जाइए और दोनों डेरे ठीक कर आइए।

पद्मसिंह ने सोचा, यह लोग तो अपने मन की करेंगे ही, पर देखूँ किन युक्तियों से अपना पक्ष सिद्ध करते हैं। निःसंकोच होकर बोले, तो यह कैसे मान लिया जाय कि विवाह आनन्दोत्सव का ही समय है? मैं तो समझता हूँ, दान और उपकार के लिए इससे उत्तम और कोई अवसर न होगा। विवाह एक धार्मिक व्रत है, ऐसे पवित्र संस्कार के अवसर पर

हमको गांभीर्य से काम लेना चाहिए। शिक्षा का कम-से-कम इतना प्रभाव तो होना चाहिए कि धार्मिक विषयों में हम मूर्खों की प्रसन्नता को प्रधान न समझें।

लेकिन मुन्शीजी अभी हार नहीं मानना चाहते थे। वह बोले, तुम वकील हो, तुमसे बहस करने की लियाकत हममें कहाँ है? लेकिन जो बात सनातन से होती चली आयी है, चाहे वह उचित हो या अनुचित उसके मिटाने से बदनामी अवश्य होती है। आखिर हमारे पूर्वज निरे जाहिल-जपट तो थे नहीं, उन्होंने कुछ समझकर ही तो इस रस्म का प्रचार किया होगा।

मदनसिंह को यह युक्ति न सूझी थी। बहुत प्रसन्न हुए। बैजनाथ की ओर सम्मानपूर्ण भाव से देखकर बोले, अवश्य! उन्होंने जो प्रथाएँ चलाई हैं, उन सब में कोई-न-कोई बात छिपी रहती है, चाहे आजकल हमारी समझ में न आये। आजकल के नये विचारवाले लोग उन प्रथाओं के मिटाने में ही अपना गौरव समझते हैं। अपने सामने उन्हें कुछ समझते ही नहीं। वह यह नहीं देखते कि हमारे पास जो विद्या, ज्ञान, विचार और आचरण है, वह सब उन्हीं पूर्वजों की कमाई है। हमारे अपने रीति-रिवाज हमारी अवस्था के अनुकूल हैं। उनमें काँट-छाँट करने की जरूरत नहीं।

पद्मसिंह ने इन बातों को बड़ी धीरता के साथ सुना, पर उनका कुछ उत्तर न दिया। उत्तर देने से बात बढ़ जाने का भय था। कोई वाद जब विवाद का रूप धारण कर लेता है तो वह अपने लक्ष्य से दूर हो जाता है। वाद में नम्रता और विनय प्रबल युक्तियों से भी अधिक प्रभाव डालती है। अतएव वह बोले, आप यह मानते हैं कि बाजार में वही वस्तु दिखाई देती है जिसके ग्राहक होते हैं और ग्राहकों के न्यूनाधिक होने पर वस्तु का न्यूनाधिक होना निर्भर है।

बैजनाथ—जी हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पद्मसिंह—इस विचार से किसी वस्तु के ग्राहक ही मानों उसके बाजार

में आने के कारण होते हैं। यदि कोई मांस न खाय तो बकरे की गर्दन पर छुरी क्यों चले!

बैजनाथ समझ रहे थे कि यह मुझे किसी दूसरे पेंच में ला रहे हैं, लेकिन उन्होंने अभी तक उसका मर्म न समझा था। डरते हुए बोले, हाँ, बात तो यही है।

पद्म—ऐसी अवस्था में क्या यह समझना कठिन है कि सैकड़ों स्त्रियाँ जो हर रोज बाजार में झरोखों में बैठी दिखाई देती हैं, जिन्होंने अपनी लज्जा और सतीत्व को नष्ट कर दिया है, उनके जीवन का सर्वनाश करनेवाले हमी लोग हैं। वह हजारों परिवार जो आये दिन इस कुवासना की भँवर में पड़कर विलुप्त हो जाते हैं, ईश्वर के दरबार में हमारा ही दामन पकड़ेंगे। जिस प्रथा से इतनी बुराइयाँ उत्पन्न हों उसका त्याग करना क्या अनुचित है?

मदनसिंह बड़े ध्यान से ये बातें सुन रहे थे। वह साधारण बुद्धि के मनुष्य थे। कायल होकर बतबढ़ाव करते रहना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। मुस्कराकर मुन्शी बैजनाथ से बोले, कहिए मुन्शीजी, अब क्या कहते हैं? है कोई निकलने का उपाय?

बैजनाथ ने हँस कर कहा, मुझे तो रास्ता नहीं सूझता।

मदन—इतना तो मैं भी कहूँगा कि ऐसे जलसों से मन अवश्य चंचल हो जाता है। जवानी में जब मैं किसी जलसे से लौटता तो महीनों तक उसी वेश्या के रंग-रूप, हाव-भाव की चर्चा किया करता।

बैजनाथ—भैया, पद्मसिंह के ही मन की होने दीजिये, लेकिन कम्बल अवश्य बँटवाइये।

मदन—एक कुआँ बनवा दिया जाय तो सदा के लिए नाम हो जायगा। इधर भाँवर पड़ी उधर मैंने कुएँ की नींव डाली।

२४

बरसात के दिन थे, घटा छायी हुई थी। पण्डित उमानाथ चुनारगढ़ के निकट गंगातट पर खड़े नाव की बाट जोह रहे थे। वह कई गाँवों का

चक्कर लगाते हुए आ रहे थे और सन्ध्या होने से पहले चुनार के पास एक गाँव में जाना चाहते थे। उन्हें पता मिला था कि उस गाँव में एक सुयोग्य वर है। उमानाथ आज ही अमोला लौट जाना चाहते थे, क्योंकि उनके गाँव में एक छोटी-सी फौजदारी हो गयी थी और थानेदार साहब कल तहकीकात करने आनेवाले थे। मगर अभी तक नाव उसी पार खड़ी थी। उमानाथ को मल्लाहों पर क्रोध आ रहा था।

इतने में उमानाथ ने एक साधु को अपनी ओर आते देखा। उमानाथ को ऐसी भावना हुई कि मैंने इस साधु को कहीं देखा है, पर याद नहीं पड़ता कि कहाँ। स्मृति पर एक परदा-सा पड़ा हुआ था।

अकस्मात् साधु ने उमानाथ की ओर ताका और तुरन्त उन्हें प्रणाम करके बोला, महाराज घर पर तो सब कुशल है, यहाँ कैसे आना हुआ?

उमानाथ के नेत्र पर से परदा हट गया। स्मृति जागृत हो गयी। हम रूप बदल सकते हैं, शब्द को नहीं बदल सकते। यह गजाधर पांडे थे। डरते हुए पूछा, शुभ नाम?

साधु—पहले तो गजाधर पांडे था, अब गजानन्द हूँ।

उमानाथ—ओहो! तभी तो मैं पहचान न पाता था। मुझे स्मरण आता था कि मैंने कहीं आपको देखा है, पर आपको इस वेष में देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। बाल-बच्चे कहाँ हैं?

गजानन्द—उस मायाजाल से मुक्त हो गया।

उमानाथ—सुमन कहाँ है?

गजानन्द—दालमण्डी के एक कोठे पर।

उमानाथ ने विस्मित होकर गजानन्द की ओर देखा। तब लज्जा से उनका सिर झुक गया। एक क्षण के बाद उन्होंने फिर पूछा, यह कैसे हुआ, कुछ बात समझ में नहीं आती?

गजानन्द–उसी प्रकार जैसे संसार में प्रायः हुआ करता है। मेरी असज्जनता और निर्दयता, सुमन की चंचलता और विलास-लालसा दोनों ने मिलकर हम दोनों का सर्वनाश कर दिया। मैं अब उस समय का

बातों को सोचता हूँ तो मालूम होता है कि एक बड़े घर की बेटी से ब्याह करने में मैंने बड़ी भूल की, और इससे बड़ी भूल यह थी कि ब्याह हो जाने पर उसका उचित आदर-सम्मान नहीं किया। उससे निर्दयता का व्यवहार किया। अब मुझे मालूम होता है कि मैं ही उसके घर से निकलने का कारण हुआ। मैंने उसके साथ जो-जो अत्याचार किये उन्हें स्मरण करके आज मुझे अपनी क्रूरता पर इतना दुःख होता है कि जी चाहता है कि विष खा लूँ। उसी अत्याचार का अब प्रायश्चित कर रहा हूँ। उसके चले जाने के बाद दो-चार दिन तक तो मुझपर नशा रहा, पर जब नशा ठंढा हुआ तो मुझे वह घर काटने लगा। मैं एक मन्दिर में पुजारी बन गया। मन्दिर में दो-चार सज्जन नित्य ही आते थे। उनके साथ रामायण आदि कथाएँ पढ़ा करता था। कभी-कभी साधु-महात्मा भी आ जाते। उनके पास सत्संग का सुअवसर मिल जाता। धर्म-कथाओं के पढ़ने और सुनने से मन में भक्ति और प्रेम का उदय हुआ और ज्ञानियों के सत्संग से भक्ति ने वैराग्य का रूप धारण कर लिया। अब गाँव-गाँव घूमता हूँ और अपने से जहाँ तक हो सकता है दूसरों का कल्याण करता हूँ। आप क्या काशी से आ रहे हैं?

उमानाथ—नहीं, मैं भी एक गाँव से आ रहा हूँ। सुमन की एक छोटी बहन है, उसी के लिए वर खोज रहा हूँ।

गजानन्द—लेकिन अबकी सुयोग्य वर खोजिएगा।

उमानाथ—सुयोग्य वरों की तो कमी नहीं है, पर उसके लिए मुझमें सामर्थ्य भी तो हो? सुमन के लिए क्या मैंने कुछ कम दौड़-धूप की थी?

गजानन्द—सुयोग्य वर मिलने के लिए आपको कितने रुपयों की आवश्यकता है?

उमानाथ—एक हजार तो दहेज ही माँगते हैं और सब खर्च अलग रहा।

गजानन्द—आप विवाह तै कर लीजिए। एक हजार रुपए का प्रबन्ध ईश्वर चाहेंगे तो मैं कर दूँगा। यह वेष धारण करके अब मुझे ज्ञात हो रहा

है कि मैं प्राणियों का बहुत उपकार कर सकता हूँ। दो-चार दिन में आपके ही घर पर आपसे मिलूँगा।

नाव आ गयी। दोनों नाव पर बैठे। गजानन्द तो मल्लाहों से बातें करने लगे, लेकिन उमानाथ चिन्तासागर में डूबे हुए थे। उनका मन कह रहा था कि सुमन का सर्वनाश मेरे ही कारण हुआ।

२५

पण्डित उमानाथ मदनसिंह का फलदान चढ़ा आये हैं। उन्होंने जाह्नवी से गजानन्द की सहायता की चर्चा नहीं की थी। डरते थे कि कहीं वह इन रुपयों को अपनी लड़कियों के विवाह के लिए रख छोड़ने पर जिद न करने लगे। जाह्नवी पर उनके उपदेश का कुछ असर न होता था, उसके सामने वह उसकी हाँ-में-हाँ मिलाने पर मजबूर हो जाते थे।

उन्होंने एक हजार रुपए के दहेज पर विवाह ठीक किया था। पर अब इस चिन्ता में पड़े हुए थे कि बारात के लिए खर्च का क्या प्रबन्ध होगा। कम-से-कम एक हजार रुपए की और जरूरत थी। इसके मिलने का उन्हें कोई उपाय न सूझता था। हाँ, उन्हें इस विचार से हर्ष होता था कि शान्ता का विवाह अच्छे घर में होगा, वह सुख से रहेगी और गंगाजली की आत्मा मेरे इस काम से प्रसन्न होगी।

पण्डित कृष्णचन्द्र को जेलखाने से छूटकर आये हुए एक सप्ताह बीत गया था; लेकिन अभी तक विवाह के संबंध में उमानाथ को बातचीत करने का अवसर ही न मिला था। वह कृष्णचन्द्र के सम्मुख जाते हुए लजाते थे। कृष्णचन्द्र के स्वभाव में अब एक बड़ा अन्तर दिखायी देता था। उनमें गंभीरता की जगह एक उद्दंडता आ गयी थी और संकोच नाम को भी न रहा था। उनका शरीर क्षीण हो गया था, पर उसमें एक अद्भुत शक्ति भरी हुई मालूम होती थी। वे रात को बार-बार दीर्घ निःश्वास लेकर 'हाय! हाय!' कहते सुनायी देते थे।

उनके नेत्रों में एक प्रकार की चञ्चलता दीख पड़ती थी। जाह्नवी उनके सामने खड़ी न हो सकती, उसे उनसे भय लगता था।

ससुराल के नाते कृष्णचन्द्र को स्त्रियों से हँसने-बोलने का पद था, पर उनकी बात ऐसी हास्यपूर्ण और चितवनें ऐसी कुचेष्टापूर्ण होती थीं कि स्त्रियाँ लज्जा से मुँह छिपा लेतीं और आकर जाह्नवी को उलाहने देतीं। वास्तव में कृष्णचन्द्र काम-सन्ताप से जले जाते थे।

अमोला में कितने ही सुशिक्षित सज्जन थे। कृष्णचन्द्र उनके समाज में न बैठते। वे नित्य सन्ध्या समय नीच जाति के आदमियों के साथ चरस की दम लगाते दिखायी देते थे। उस समय मण्डली में बैठे हुए वे अपने जेल के अनुभव वर्णन किया करते। वहाँ उनके कंठ से अश्लील बातों की धारा बहने लगती थी।

उमानाथ अपने गाँव में सर्वमान्य थे, वे बहनोई के इन दुष्कृत्यों को देख-देखकर कट जाते और ईश्वर से मनाते कि किसी प्रकार ये यहाँ से चले जायँ।

और तो और, शान्ता को भी अब अपने पिता के सामने आते हुए भय और संकोच होता था। गाँव की स्त्रियाँ जब जाह्नवी से कृष्णचन्द्र की करतूतों की निन्दा करने लगतीं तो शान्ता को अत्यन्त दुःख होता था। उसकी समझ में न आता था कि पिताजी को क्या हो गया है। यह कैसे गम्भीर, कैसे विचारशील, कैसे दयाशील, कैसे सच्चरित्र मनुष्य थे! यह काया-पलट कैसे हो गयी? शरीर तो वही है पर वह आत्मा कहाँ गयी!

इस तरह एक मास बीत गया। उमानाथ मन में झुँझलाते कि इन्हीं की लड़की का विवाह होनेवाला है और ये ऐसे निश्चिन्त बैठे हैं तो मुझको क्या पड़ी है कि व्यर्थ हैरानी में पड़ूँ। यह तो नहीं होता कि जाकर कहीं चार पैसे कमाने का उपाय करें, उलटे अपने साथ-साथ मुझे भी खराब कर रहे हैं।

एक रोज उमानाथ ने कृष्णचन्द्र के सहचरों को धमकाकर कहा, अब तुम लोगों को उनके साथ बैठकर चरस पीते देखा तो तुम्हारी कुशल नहीं। एक-एक की बुरी तरह खबर लूँगा। उमानाथ का रोब सारे गाँव पर छाया हुआ था। वे सब-के-सब डर गये। दूसरे दिन जब कृष्णचन्द्र उनके पास गये तो उन्होंने कहा, महाराज, आप यहाँ न आया कीजिए। हमें पंडित

उमानाथ के कोप में न डालिए। कहीं कोई मामला खड़ा कर दें तो हम बिना मारे ही मर जायँ।

कृष्णचन्द्र क्रोध में भरे हुए उमानाथ के पास आये और बोले, मालूम होता है तुम्हें मेरा यहाँ रहना अखरने लगा।

उमानाथ—आपका घर है, आप जब तक चाहें रहें, पर मैं यह चाहता हूँ कि नीच आदमियों के साथ बैठकर आप मेरी और अपनी मर्यादा को भंग न करें।

कृष्णचन्द्र—तो किसके साथ बैठूँ? यहाँ जितने भले आदमी हैं उनमें कौन मेरे साथ बैठना चाहता है? सब-के सब मुझे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। यह मेरे लिए असह्य है। मैं उनके साथ बैठता हूँ जो इस अवस्था में भी मेरा आदर करते हैं, जो अपने को मुझसे श्रेष्ठ नहीं समझते, जो कौए होकर हंस बनने की चेष्टा नहीं करते! अगर मेरे इस व्यवहार से तुम्हारी इज्जत में बट्टा लगता है तो मैं जबरदस्ती तुम्हारे घर नहीं रहना चाहता।

उमानाथ—मेरा ईश्वर साक्षी है, मैंने इस नीयत से उन आदमियों को आपके साथ बैठने से नहीं मना किया था। आप जानते हैं कि मेरा सरकारी अधिकारियों से प्रायः संसर्ग रहता है, आपके इस व्यवहार से मुझे उनके सामने आँखें नीची करनी पड़ती हैं।

कृष्ण—मित्र, क्यों मुँह खुलवाते हो! थानेदारों की दलाली करके भी तुम्हें इज्जत का घमण्ड है!

उमानाथ—मैं अधम पापी सही, पर आपके साथ मैंने जो सलूक किये उन्हें देखते हुए आपके मुँह से ये बातें न निकलनी चाहिए।

कृष्ण—तुमने मेरे साथ वह सलूक किया कि मेरा घर चौपट कर दिया। तुमने मेरी स्त्री को मारा, मेरी एक लड़की को न जाने किस लम्पट के गले बाँध दिया और लड़की से मजदूरिन की तरह काम ले रहे हो। मूर्ख स्त्री को झाँसा देकर मुकदमा लड़ने के बहाने से सब रुपए उड़ा लिये और तब अपने घर लाकर उसकी दुर्गति की। आज अपने सलूक की शेखी बघारते हो!

उमानाथ यह कहना चाहते थे कि अब तो जो कुछ हो गया वह हो गया; अब मेरा पिण्ड छोड़ो, शान्ता के विवाह का प्रबन्ध करो, पर डरे कि इस समय क्रोध में कहीं यह सचमुच शान्ता को लेकर चले न जायँ। इसलिए गम खा जाना ही उचित समझा। निर्बल क्रोध उदार हृदय में करुणा का भाव उत्पन्न कर देता है। किसी भिक्षुक के मुँह से गाली खाकर सज्जन मनुष्य चुप रहने के सिवा और क्या कर सकता है?

उमनाथ की सहिष्णुता ने कृष्णचन्द्र को भी शान्त किया, पर दोनों में बातचीत न हो सकी। दोनों अपनी-अपनी जगह पर विचार में डूबे बैठे थे, जैसे दो कुत्ते लड़ने के बाद आमने-सामने बैठे रहते हैं। उमानाथ सोचते थे कि बहुत अच्छा हुआ, जो मैं चुप साध गया, नहीं तो संसार मुझी को बदनाम करता। कृष्णचन्द्र सोचते थे मैंने बुरा किया, जो ये गड़े मुरदे उखाड़े। अनुचित क्रोध मे सोयी हुई आत्मा का जगाने का विशेष अनुराग होता है। कृष्णचन्द्र को अपना कर्त्तव्य दिखायी देने लगा। अनुचित क्रोध ने अकर्मण्यता की निद्रा भंग कर दी। सन्ध्या समय कृष्णचन्द्र ने उमामाथ से पूछा, शान्ता का विवाह तो तुमने ठीक किया है न?

उमानाथ—हाँ, चुनार में, पण्डित मदनसिंह के लड़के से।

कृष्ण—वह तो कोई बड़े आदमी मालूम होते हैं। कितना दहेज ठहरा है?

उमानाथ—एक हजार।

कृष्णचन्द्र स्तब्ध हो गये। पूछा, रुपयों का प्रबन्ध कैसे होगा?

उमा—ईश्वर किसी तरह पार लगायेंगे ही।

कृष्णचन्द्र ने अत्यन्त ग्लानिपूर्वक कहा, मेरी दशा तो तुम देख ही रहे हो। इतना कहते-कहते उनकी आँखों से आँसू टपक पड़े।

उमा—आप निश्चिन्त रहिए मैं सब कुछ कर लूँगा।

कृष्ण—परमात्मा तुम्हें इसका शुभ फल देंगे। भैया, मुझसे जो अविनय हुई है उसका तुम बुरा न मानना। अभी मैं आपे में नहीं हूँ, इस कठिन यन्त्रणा ने मुझे पागल कर दिया है। मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ

थी कि मैं इतने भारी बोझ को सम्हालता। तुमने मुझे उबार दिया, मेरी नाव पार लगा दी, यह शोभा नहीं देता कि तुम्हारे ऊपर इतने बड़े कार्य का भार रखकर मैं आलसी बना बैठा रहूँ। मुझे भी आज्ञा दो कि कहीं चलकर चार पैसे कमाने का उपाय करूँ। मैं कल बनारस जाऊँगा। यों मेरे पहले के जान-पहचान के तो कई आदमी हैं, पर उनके यहाँ नहीं ठहरना चाहता। सुमन का घर किस मुहल्ले में है?

उमानाथ का मुख पीला पड़ गया। बोले, विवाह तक तो आप यहीं रहिए। फिर जहाँ इच्छा हो चले जाइएगा।

कृष्णचन्द्र—नहीं, कल मुझे जाने दो, विवाह से एक सप्ताह पहले आ जाऊँगा। दो-चार दिन सुमन के यहाँ ठहर कर कोई नौकरी ढूँढ़ लूँगा। किस मुहल्ले में रहती है।

उमा—मुझे ठीक याद नहीं है, इधर बहुत दिनों से मैं उधर नहीं गया। शहरवालों का क्या ठिकाना? रोज घर बदला करते हैं। मालूम नहीं अब किस मुहल्ले में हो।

रात को भोजन के समय कृष्णचन्द्र ने शान्ता से सुमन का पता पूछा। शान्ता उमानाथ के संकेत को न देख सकी, उसने पूरा पता बता दिया।

२६

शहर की म्युनिसिपैलिटी में कुल १८ सभासद थे। उनमें ८ मुसलमान थे और १० हिन्दू। सुशिक्षित मेम्बरों की संख्या अधिक थी, इसीलिए शर्माजी को विश्वास था कि म्युनिसिपैलिटी में वेश्याओं को नगर से बाहर निकाल देने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। वे सब सभासदों से मिल चुके थे और इस विषय में उनकी शंकाओं का समाधान कर चुके थे, लेकिन मेम्बरों में कुछ ऐसे सज्जन भी थे जिनकी ओर से घोर विरोध होने का भय था। ये लोग बड़े व्यापारी, धनवान् और प्रभावशाली मनुष्य थे। इसलिए शर्माजी को यह भय भी था कि कहीं शेष मेम्बर उनके दबाव में न आ जायँ। हिन्दुओं में विरोधी दल के नेता सेठ बलभद्रदास थे और मुसलमानों में हाजी हाशिम। जब तक विट्ठलदास इस आन्दोलन के कर्त्ताधर्त्ता

थे तब तक इन लोगों ने उसकी ओर कुछ ध्यान न दिया था, लेकिन जब से पद्मसिंह और म्युनिसिपैलिटी के अन्य कई मेम्बर इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गये थे, तब से सेठजी और हाजी साहब के पेट में चूहे दौड़ रहे थे। उन्हें मालूम हो गया था कि शीघ्र ही यह मन्तव्य सभा में उपस्थित होगा, इसलिए दोनों महाशय अपने पक्ष के स्थिर करने में तत्पर हो रहे थे। पहले हाजी साहब ने मुसलमान मेम्बरों को एकत्र किया। हाजी साहब का जनता पर बड़ा प्रभाव था और वह शहर के समस्त मुसलमानों के नेता समझे जाते थे। शेष ७ मेम्बरों में मौलाना तेग अली एक इमामबाड़े के वली थे। मुन्शी अबुलवफा इत्र और तेल के कारखाने के मालिक थे। बड़े-बड़े शहरों में उनकी कई दूकानें थीं। मुन्शी अब्दुल्लतीफ एक बड़े जमींदार थे, लेकिन बहुधा शहर में रहते थे। कविता से प्रेम था और स्वयं अच्छे कवि थे। शाकिरबेग और शरीफहसन वकील थे। उनके सामाजिक सिद्धान्त बहुत उन्नत थे। सैयद शफकतअली पेन्शनर डिप्टी-कलक्टर थे और खाँ साहब शोहरत खाँ प्रसिद्ध हकीम थे। वे दोनों महाशय सभा-समाजों से प्रायः पृथक् रहते थे, किन्तु उनमें उदारता और विचारशीलता की कमी न थी। दोनों धार्मिक प्रवृत्ति के मनुष्य थे। समाज में उनका बड़ा सम्मान था

लेकिन इस सभा का कोई विशेष फल न निकला। लोग मन में जो पक्ष स्थिर करके घर से आये थे उसी पक्ष पर डटे रहे। हाजी हाशिम को अपनी विजय का जो पूर्ण विश्वास था उसमें सन्देह पड़ गया।

इस प्रस्ताव के विरोध में हिन्दू मेम्बरों को जब मुसलमानों के जलसे का हाल मालूम हुआ तो उनके कान खड़े हुए। उन्हें मुसलमानों से जो आशा थी वह भंग हो गयी। कुल दस हिन्दू थे। सेठ बलभद्रदास चेयरमैन थे। डाक्टर श्यामाचरण वाइस-चेयरमैन। लाला चिम्मनलाल और दीनानाथ तिवारी व्यापारियों के नेता थे। पद्मसिंह और रुस्तम भाई वकील थे। रमेशदत्त कालेज के अध्यापक, लाल भगतराम ठेकेदार, प्रभाकरराव हिन्दी पत्र 'जगत्' के संपादक और कुँवर अनिरुद्ध बहादुरसिंह जिले के सबसे बड़े जमींदार थे। चौक की दूकानों में अधिकांश बलभद्रदास और

चिम्मनलाल की थीं। दालमंडी में दीनानाथ के कितने ही मकान थे। वह तीनों महाशय इस प्रस्ताव के विपक्षी थे। लाला भगतराम का काम चिम्मनलाल की आर्थिक सहायता से चलता था। इसलिए उनकी सम्मति भी उन्हीं की ओर थी। प्रभाकरराव, रमेशदत्त, रुस्तम भाई और पद्मसिंह इस प्रस्ताव के पक्ष में थे। डाक्टर श्यामाचरण और कुँवर साहब के विषय में अभी तक कुछ निश्चय नहीं हो सका था। दोनों पक्ष उनसे सहायता की आशा रखते थे। उन्हीं पर दोनों पक्षों की हार-जीत निर्भर थी। पद्म-सिंह अभी बारात से नहीं लौटे थे। बलभद्रदास ने इस अवसर को अपने पक्ष में समर्थन के लिए उपयुक्त समझा और सब हिन्दू मेम्बरों को अपनी सुसज्जित बारादरी में निमंत्रित किया। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि डाक्टर साहब और कुँवर महोदय की सहानुभूति अपने पक्ष में कर लें। प्रभाकरराव मुसलमानों के कट्टर विरोधी थे। वे लोग इस प्रस्ताव को हिन्दू-मुसलिम विवाद का रंग देकर प्रभाकरराव को भी अपनी ओर खींचना चाहते थे।

२७

जिस प्रकार कोई आलसी मनुष्य किसी के पुकारने की आवाज सुन-कर जाग जाता है किन्तु इधर-उधर देखकर फिर निद्रा में मग्न हो जाता है, उसी प्रकार पंडित कृष्णचन्द्र क्रोध और ग्लानि का आवेश शान्त होने पर अपने कर्तव्य को भूल गये। लेकिन उसी दिन से उन्होंने नीच आद-मियों के साथ बैठकर चरस पीना छोड़ दिया। अब वे प्रायः बरामदे में ही बैठे रहते और सामने से आने-जानेवाली रमणियों को घूरते। वे प्रत्येक विषय में उमानाथ की हाँ-में-हाँ मिलाते। भोजन करते समय सामने जितना आ जाता खा लेते, इच्छा रहने पर भी कभी कुछ न माँगते। वे उमानाथ से कितनी ही बातें ठकुरसुहाती के लिए कहते। उनकी आत्मा निर्बल हो गयी थी।

उमानाथ शान्ता के विवाह के संबंध में जब उनसे कुछ कहते थे तो वह बड़े सरल भाव से उत्तर देते, भाई तुम जो चाहो करो, इसके तुम्हीं मालिक हो।

लेकिन उमानाथ अपने बहनोई की कठोर बातें न भूले थे। छाले पर मक्खन लगाने से एक क्षण के लिए कष्ट कम हो जाता है, किन्तु फिर ताप की वेदना होने लगती है। कृष्णचन्द्र की आत्मग्लानि से भरी हुई बातें उमानाथ को शीघ्र भूल गयीं और उनके कृतघ्न शब्द कानों में गूँजते रहे। जब वह सोने गये तो जाह्नवी ने पूछा, आज लालाजी (कृष्णचन्द्र) तुमसे क्या बिगड़ रहे थे?

उमानाथ ने अन्याय पीड़ित नेत्रों से कहा, मेरा यश गा रहे थे। कह रहे थे, तुमने मुझे लूट लिया, मेरी स्त्री को मार डाला, मेरी एक लड़की को कुएँ में डाल दिया, दूसरी को दुःख दे रहे हो।

'तो तुम्हारे मुँह में जीभ न थी? कहा होता, क्या मैं किसी को नेवता देने गया था? कहीं तो ठिकाना न था, दरवाजे-दरवाजे ठोकरें खाती फिरती थीं। "बकरा जी से गया, खानेवाले को स्वाद ही न मिला"। यहाँ लाज ढोते-ढोते मर मिटे, उसका यह फल! इतने दिन थानेदारी की, लेकिन गंगाजली ने कभी भूलकर भी एक डिबिया सेंदुर न भेजा। मेरे सामने कहा होता तो ऐसी-ऐसी सुनाती कि दाँत खट्टे हो जाते। दो-दो पहाड़-सी लड़कियाँ गले पर सवार कर दीं, उसपर बोलने को मरते हैं। इनके पीछे फकीर हो गये, उसका यह यश है! अब से अपना पौरा लेकर क्यों नहीं कहीं चले जाते? काहे को पैर में मेंहदी लगाये बैठे हैं?'

'अब तो जाने को कहते हैं। सुमन का पता भी पूछा था?'

'तो क्या बेटी के सिर पड़ेंगे? वाह रे बेहया!'

'नहीं ऐसा क्या करेंगे, शायद दो-एक दिन वहाँ ठहरें।'

'कहाँ की बात, इनसे अब कुछ न होगा। इनकी आँखों का पानी मर गया, जाके उसी के सिर पड़ेंगे, मगर देख लेना वहाँ एक दिन भी निर्वाह न होगा।'

अब तक उन्होंने सुमन के आत्म-पतन की बात जाह्नवी से छिपायी थी। वह जानते थे कि स्त्रियों के पेट में बात नहीं पचती। यह किसी-न-किसी से अवश्य कह देगी और बात फैल जायगी। जब जाह्नवी के स्नेह-व्यवहार

से वह प्रसन्न होते तो उन्हें उससे सुमन की कथा कहने की बड़ी तीव्र आकांक्षा होती। लेकिन परिणाम को सोचकर रुक जाते थे। आज कृष्णचन्द्र की कृतघ्नता ने उमानाथ को निःशंक कर दिया, पेट में बात न रुक सकी। उन्होंने जाह्नवी से सारी कथा बयान कर दी। जब रात को उनकी नींद खुली तो उन्हें अपनी भूल दिखाई दी, पर तीर कमान से निकल चुका था। जाह्नवी ने अपने पति को वचन तो दिया था कि यह बात किसी से न कहूँगी, पर उसे अपने हृदय पर बोझ-सा रखा हुआ मालूम हो रहा था। उसका किसी काम में मन न लगता था। वह उमानाथ पर झुँझलाती थी कि कहाँ से उन्होंने मुझसे यह बात कह दी। उसे सुमन से घृणा न थी, क्रोध न था, केवल एक कौतूहलजनक बात कहने की, मानव-हृदय की मीमांसा करने की सामग्री मिलती थी। स्त्री-शिक्षा के विरोध में कैसा अच्छा प्रमाण हाथ आ गया! जाह्नवी उस आनन्द से अपने को बहुत दिनों तक वंचित न रख सकी। यह असम्भव था। यह उन दो-एक साध्वी स्त्रियों के साथ विश्वास-घात था जो अपने घर का रत्ती-रत्ती समाचार उससे कह दिया करती थीं। इसके अतिरिक्त यह जानने की उत्सुकता भी कुछ कम न थी कि अन्य स्त्रियाँ इस विषय की कैसी आलोचना करती हैं। जाह्नवी कई दिनों तक अपने मन को रोकती रही। एक दिन कुबेर पंडित की पत्नी सुभागी ने आकर जाह्नवी से कहा, जीजी, आज एकादशी है, गंगा नहाने चलोगी?

सुभागी का जाह्नवी से बहुत मेल था। जाह्नवी बोली, चलती तो, पर यहाँ तो द्वार पर एक यमदूत बैठा है। उसके मारे कहीं हिलते पाती हूँ!

सुभागी—बहन, इनकी बातें तुमसे क्या कहूँ! लाज आती है। मेरे घरवाले सुन लें तो सिर काटने पर उतारू हो जायँ। कल मेरी बड़ी लड़की को सुना-सुनाकर न जाने कौन कवित्त पढ़ रहे थे। आज सबेरे मैंने दोनों को कुएँ पर हँसते देखा। कहीं पण्डित सुन लें तो खून-खराबी हो जाय। तुमसे कहती हूँ, किसी तरह आड़ में बुलाकर उन्हें समझा दो।

अब जाह्नवी से न रहा गया। उसने सुमन का सारा चरित्र खूब नमक-मिर्च लगाकर सुभागी से बयान किया। जब कोई हमसे अपना भेद खोल

देता है तो हम उससे अपना भेद गुप्त नहीं रख सकते।

दूसरे ही दिन कुबेर पण्डित ने अपनी लड़की को ससुराल भेज दिया और मन में निश्चय किया कि इस अपमान का बदला लूँगा। ✓

२८

सदन के विवाह का दिन आ गया। चुनार से बारात अमोला चली। सन्ध्या समय बारात अमोला पहुँची। पद्मसिंह के मुहर्रिर ने वहाँ पहले से ही शामियाना खड़ा कर रखा था। छोलदारियाँ भी लगी हुई थीं। शामियाना, झाड़, फानूस और हाँड़ियों से सुसज्जित था। कारचोबी, मसनद, गावतकिये और इत्रदान आदि अपने-अपने स्थान पर रखे हुए थे। धूम थी कि नाच के कई डेरे आये हैं।

द्वारपूजा हुई, उमानाथ कन्धे पर एक अँगोछा डाले हुए बारात का स्वागत करते थे। गाँव की स्त्रियाँ दालान में खड़ी मंगलाचरण गाती थीं। बाराती लोग यह देखने की चेष्टा कर रहे थे कि इनमें कौन सबसे सुन्दर है। स्त्रियाँ भी मुस्करा-मुस्कराकर उनपर नयनों की कटार चला रही थीं। जाह्नवी उदास थी, वह मन में सोच रही थी कि यह वर मेरी चन्द्रा को मिलता तो अच्छा होता। सुभागी यह जानने के लिए उत्सुक थी कि समधी कौन है। कृष्णचन्द्र सदन के चरणों की पूजा कर रहे थे और मन में शंका कर रहे थे कि यह कौन-सा उल्टा रिवाज है। मदनसिंह ध्यान से देख रहे थे कि थाल में कितने रुपये हैं।

बारात जनवासे को चली। रसद का सामान बँटने लगा। चारों ओर कोलाहल होने लगा। कोई कहता था, मुझे घी कम मिला, कोई गोहार लगाता था कि मुझे उपले नहीं दिए गये। लाला बैजनाथ शराब के लिए जिद कर रहे थे।

सामान बँट चुके तो लोगों ने उपले जलाये और हाँड़ियाँ चढ़ायीं। धुएँ से गैस का प्रकाश पीला पड़ गया।

सदन मसनद लगाकर बैठा। महफिल सज गयी। काशी के संगीत समाज ने श्यामकल्याण की धुन छेड़ी।

सहस्रों मनुष्य शामियाने के चारों ओर खड़े थे। कुछ लोग मिर्जई पहने, पगड़ी बाँधे फर्श पर बैठे थे, लोग एक दूसरे से पूछते थे कि डेरे कहाँ हैं। कोई इस छोलदारी में झाँकता था, कोई उस छोलदारी में और कुतूहल से कहता था, कैसी बारात है कि एक डेरा भी नहीं, कहाँ के कँगले हैं। यह बड़ा-सा शामियाना काहे को खड़ा कर रखा है?

पण्डित मदनसिंह अपनी छोलदारी में बैठे हुए गहने-कपड़े सहेज रहे थे कि मुन्शी बैजनाथ दौड़े हुए आये और बोले, भैया, बड़ा अनर्थ हो गया, आपने यहाँ नाहक ब्याह किया?

मदनसिंह ने चकित होकर पूछा, क्यों, क्या हुआ? क्या कुछ गड़बड़ है?

'हाँ, अभी इसी गाँव का एक आदमी मुझसे मिला था, उसने इन लोगों की ऐसी कलई खोली कि मेरे होश उड़ गये। कन्या का पिता हाल में जेलखाने से छूटकर आया है और कन्या की एक बहन वेश्या हो गयी है। दालमण्डी में जो सुमनबाई है, वह इसी कन्या की सगी बहन है।'

मदनसिंह को ऐसा मालूम हुआ कि वह किसी पेड़ पर से फिसल पड़े। आँखें फाड़कर बोले, वह आदमी इन लोगों का कोई बैरी तो नहीं? विघ्न डालने के लिए लोग बहुधा झूठमूठ कलंक लगा दिया करते हैं।

बैजनाथ—जी नहीं, वह तो कहता था मैं उन लोगों के मुँह पर कह दूँ।

इतने में पण्डित उमानाथ स्वयं एक नाई के साथ आते हुए दिखायी दिये। वधू के लिए गहने-कपड़ों की जरूरत थी। ज्यों ही वह छोलदारी के द्वार पर आकर खड़े हुए कि मदनसिंह जोर से झपटे और उनके दोनों हाथ पकड़कर झकझोरते हुए बोले, क्यों जी तिलकधारी महाराज, तुम्हें संसार में और कोई न मिलता था कि तुमने अपने मुख की कालिख मेरे मुँह लगायी।

बिल्ली के पंजे में फँसे हुए चूहे की तरह दीन-भाव से उमानाथ ने उत्तर दिया, महाराज, मुझसे कौन-सा अपराध हुआ है?

'यही कि सुमन कन्या की सगी बहन है।'

उमानाथ का चेहरा पीला पड़ गया। लज्जा से सिर झुक गया। नेत्र ज्योतिहीन हो गये। बोले, महाराज''''और उनके मुख से कुछ न निकला।

मदनसिंह ने गरजकर कहा, स्पष्ट क्यों नहीं बोलते? यह बात सच है या झूठ?

उमानाथ ने फिर उत्तर देना चाहा, किन्तु 'महाराज' के सिवा और कुछ न कह सके।

मदनसिंह को अब कोई सन्देह न रहा। क्रोध की अग्नि प्रचंड हो गयी। आँखों से ज्वाला निकलने लगी। शरीर काँपने लगा। उमानाथ की ओर आग्नेय दृष्टि से ताककर बोले—अब अपना कल्याण चाहते हो तो मेरे सामने से हट जाओ। धूर्त्त, दगाबाज, पाखण्डी कहीं का! तिलक लगाकर पंडित बना फिरता है, चांडाल! अब तेरे द्वार पर पानी न पीऊँगा। अपनी लड़की को जन्तर बनाकर गले में पहन। यह कहकर मदनसिंह उठे और उस छोलदारी में चले गये जहाँ सदन पड़ा सो रहा था और जोर से चिल्लाकर कहारों को पुकारा।

उसके जाने पर उमानाथ पद्मसिंह से बोले, महाराज, किसी प्रकार पण्डितजी को मनाइए। मुझे कहीं मुँह दिखाने को जगह न रहेगी।

पद्मसिंह ने चिन्तित स्वर से कहा, भाई साहब के कान में बात न पड़ी होती तो यह सब कुछ न होता। देखिए, मैं उनके पास जाता हूँ, पर उनका राजी होना कठिन मालूम होता है।

मदनसिंह कहारों से चिल्लाकर कह रहे थे कि जल्द यहाँ से चलने की तैयारी करो। सदन भी अपने कपड़े समेट रहा था। उसके पिता ने सब हाल उससे कह दिया था।

इतने में पद्मसिंह ने आकर आग्रहपूर्वक कहा, भैया, इतनी जल्दी न कीजिए। जरा सोच-समझकर काम कीजिए। धोखा तो हो ही गया, पर यों लौट चलने में तो और भी जग-हँसाई है।

सदन ने चाचा की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखा और मदनसिंह ने आश्चर्य से।

मदन—तुम अभी लड़के हो, ये बातें क्या जानो। जाओ, लौटने का सामान करो। इस वक्त की जग हँसाई अच्छी है। कुल में सदा के लिए कलंक तो न लगेगा।

पद्म—लेकिन यह तो विचार कीजिए कि कन्या की गति क्या होगी। उसने क्या अपराध किया है? उसका जीवन नष्ट हो जायगा।

मदन—तुम खामखाह क्रोध दिलाते हो। लड़की का मैंने ठेका लिया है? जो कुछ उसके भाग्य में होगा, वह होगा। मुझे इससे क्या प्रयोजन!

पद्मसिंह ने नैराश्यपूर्ण भाव से कहा, सुमन का आना-जाना बिलकुल बन्द है। इन लोगों ने उसे त्याग दिया है।

मदन—मैंने तुम्हें कह दिया कि मुझे गुस्सा न दिलाओ। तुम्हें ऐसी बात मुझसे कहते हुए लज्जा नहीं आती? बड़े सुधारक की दुम बने हो! एक हरजाई की बहन से अपने बेटे का ब्याह करा लूँ, छिः छिः, तुम्हारी बुद्धि कैसी भ्रष्ट हो गयी।

पद्मसिंह ने लज्जित होकर सिर झुका लिया। उनका मन कह रहा था कि भैया इस समय जो कुछ कर रहे हैं वही ऐसी अवस्था में मैं भी करता। लेकिन भयंकर परिणाम का विचार करके उन्होंने एक बार फिर बोलने का साहस किया। जैसे कोई परीक्षार्थी गजट में अपना नाम न पाकर निराश होते हुए भी शोधपत्र की ओर लपकता है, उसी प्रकार अपने को धोखा देकर पद्मसिंह भाई से दबते हुए बोले, सुमनबाई भी तो अब विधवाश्रम में चली गयी है।

पद्मसिंह सिर नीचा किये बातें कर रहे थे। भाई से आँखें मिलाने का हौसला न होता था। वह वाक्य मुँह से निकला ही था कि अकस्मात् मदनसिंह ने जोर से एक धक्का दिया कि वह लड़खड़ाकर गिर पड़े। चौंककर सिर उठाया, मदनसिंह खड़े क्रोध से काँप रहे थे। तिरस्कार के वे कठोर शब्द जो उनके मुँह से निकलनेवाले थे, पद्मसिंह को भूमि पर गिरते देखकर पश्चात्ताप से दब गये थे। मदनसिंह की इस समय वही दशा थी जब क्रोध में मनुष्य अपना ही मांस काटने लगता है। सदन ने लपक कर

पद्मसिंह को उठाया और अपने पिता की ओर क्रोध से देखकर बोला, आप तो जैसे बावले हो गये हैं।

इतने में कई आदमी आ गये और पूछने लगे, महाराज, क्या बात हुई ? बारात के लौटाने का हुकुम क्यों देते हैं ? ऐसा कुछ करो कि दोनों ओर की मर्यादा बनी रहे, अब उनकी और आपकी इज्जत एक है। लेन-देन में कुछ कोर-कसर हो तो तुम्हीं दब जाओ, नारायण ने तुम्हें क्या नहीं दिया है ? इनके धन से थोड़े ही धनी हो जाओगे। मदनसिंह ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

महफिल में खलबली पड़ गयी। एक दूसरे से पूछता था, यह क्या बात है। छोलदारी के द्वार पर आदमियों की भीड़ बढ़ती ही जाती थी।

महफिल में कन्या की ओर के भी कितने ही आदमी थे। सब-के-सब आकर मदनसिंह से विनती करने लगे, महाराज, हमसे ऐसा क्या अपराध हुआ है ? और जो दण्ड चाहे दीजिए पर बारात न लौटाइए, नहीं तो गाँव बदनाम हो जायगा। मदनसिंह ने उनसे केवल इतना कहा, इसका कारण जाकर उमानाथ से पूछो, वहीं बतलाएँगे।

पण्डित कृष्णचन्द्र ने जब से सदन को देखा था, आनन्द से फूले न समाते थे। विवाह का मुहूर्त निकट था, वह वर के आने की राह देख रहे थे कि इतने मे कई आदमियों ने आकर उन्हे यह खबर दी। उन्होने पूछा, क्यों लौटे जाते हैं ? क्या उमानाथ से कोई झगड़ा हो गया है ?

लोगों ने कहा, हमें यह नहीं मालूम, उमानाथ तो वहीं खड़े मना रहे हैं।

कृष्णचन्द्र झल्लाये हुए बारात की ओर चले। जनवासे में पहुँचे और ललकारकर बोले, कहाँ हैं पण्डित मदनसिंह ? महाराज, जरा बाहर आइए।

मदनसिंह यह ललकार सुनकर बाहर निकल आये और दृढ़ता के साथ बोले, कहिए, क्या कहना है ?

कृष्णचन्द्र—आप बारात क्यों लौटाये लिये जाते हैं ?

मदन—अपना मन, हमें विवाह नहीं करता है।

कृष्ण—आपको विवाह करना होगा। यहाँ आकर आप ऐसे नहीं लौट सकते।

मदन—आपको जो करना हो कीजिए। हम विवाह नहीं करेंगे।

कृष्ण—कोई कारण?

मदन—कारण क्या आप नहीं जानते?

कृष्ण—जानता तो आप से क्यों पूछता?

मदन—तो पंडित उमनाथ से पूछिए!

कृष्ण—मैं आपसे पूछता हूँ!

मदन—हम कहते हैं, हमसे न पूछिए।

कृष्ण—आपको बतलाना पड़ेगा। दरवाजे पर बारात लाकर उसे लौटा ले जाना क्या आपने लड़कों का खेल समझा है? यहाँ खून की नदी बह जायगी। आप इस भरोसे में न रहिएगा।

मदन—इसकी हमको चिन्ता नहीं है। हम यहाँ मर जायँगे, लेकिन आपकी लड़की से विवाह न करेंगे। आपके यहाँ अपनी मर्यादा खोने नहीं आये हैं।

कृष्ण—तो क्या हम आपसे नीच हैं?

मदन—हाँ, आप हमसे नीच हैं।

कृष्ण—इसका कोई प्रमाण?

मदन—हाँ, है।

कृष्ण—तो उसके बताने में आपको क्यों संकोच होता है?

मदन—अच्छा, तो सुनिए, मुझे दोष न दीजिएगा। आपकी लड़की सुमन, जो इस कन्या की सगी बहन, है पतिता हो गयी है। आपका जी चाहे तो उसे दालमंडी में देख आइए।

कृष्णचन्द्र ने अविश्वास की चेष्टा करके कहा, यह बिलकुल झूठ है। पर क्षण-मात्र में उन्हें याद आ गया कि जब उन्होंने उमानाथ से सुमन का पता पूछा था तो उन्होंने टाल दिया था, कितने ही ऐसे कटाक्षों का अर्थ समझ में आ गया, जो जाह्नवी बात-बात में उनपर करती रहती थी। विश्वास हो गया। उनका सिर लज्जा से झुक गया। वह अचेत होकर भूमि पर गिर पड़े। दोनों तरफ के सैकड़ों आदमी वहाँ खड़े थे लेकिन सब-के-

सब सन्नाटे में आ गये, इस विषय में किसी का मुँह खोलने का साहस नहीं हुआ।

आधी रात होते-होते डेरे-खेमे सब उखड़ गये। उस बगीचे में फिर अन्धकार छा गया। गीदड़ों की सभा होने लगी और उल्लू बोलने लगे।

२६

विट्ठलदास ने सुमन को विधवाश्रम में गुप्त रीति से रखा था। प्रबन्ध-कारिणी सभा के किसी भी सदस्य को इत्तला न दी थी। आश्रम की विधवाओं से उसे विधवा बताया था। लेकिन अबुलवफा जैसे टोहियों से यह बात बहुत दिनों तक गुप्त न रही। उन्होंने हिरिया को ढूँढ़ निकाला और उससे सुमन का पता पूछ लिया। तब अपने अन्य रसिक मित्रों को भी इसकी सूचना दे दी। इसका परिणाम हुआ कि उन सज्जनों की आश्रम पर विशेष रीति से कृपादृष्टि होने लगी। इन महानुभावों को अब आश्रम की सफाई और सजावट, उसकी आर्थिक दशा, उसके प्रबन्ध आदि विषयों से अद्भुत सहानुभूति हो गई। रात-दिन आश्रम की शुभकामना में मग्न रहते थे।

विट्ठलदास बड़े संकट में पड़े हुए थे। कभी विचार करते थे कि इस पद से इस्तीफा दे दूँ। क्या मैंने ही इस आश्रम का जिम्मा लिया है। कमेटी में और कितने ही मनुष्य हैं जो इस काम को सँभाल सकते हैं। वह जैसा उचित समझेंगे इसका प्रबन्ध करेंगे, मुझे अपनी आँखों से तो यह अत्याचार न देखना पड़ेगा। कभी सोचते, क्यों न एक दिन इन दुराचारियों को फटकारूँ? फिर जो कुछ होगा देखा जायगा। लेकिन जब शान्तचित्त होकर देखते तो उन्हें सबसे काम लेने के सिवा और कोई उपाय न सूझता। हाँ, उन लोगों से बड़ी रुखाई से बातचीत करते, उनके प्रस्तावों की उपेक्षा किया करते और अपने भावों से यह प्रकट करना चाहते कि मुझे तुम लोगों का यहाँ आना असह्य है। किन्तु गरज के बावले मनुष्य देखकर भी अनदेखी कर जाते हैं। इस कूटनीति के आगे विट्ठलदास की अक्ल कुछ काम न करती।

एक दिन प्रातःकाल विट्ठलदास इन्हीं चिन्ताओं में बैठे हुए थे कि इतने में उन्हें पद्मसिंह आते दिखाई दिये। उनके मुख से चिन्ता और नैराश्य झलक रहा था, मानों अभी रोकर आँसू पोछे हैं। विट्ठलदास आगे बढ़कर उनसे मिले और पूछा, बीमार थे क्या? बिलकुल पहचाने नहीं जाते।

पद्म—जी नहीं, बीमार तो नहीं हूँ, हाँ परेशान बहुत रहा।

विट्ठल—विवाह तो कुशलपूर्वक हो गया?

पद्मसिंह ने छत की ओर ताकते हुए कहा, विवाह का कुछ समाचार न पूछिए—विवाह क्या हुआ एक अबला कन्या का जीवन नष्ट कर आये। वह इसी सुमन बाई की बहन निकली, भैया को ज्योंही मालूम हुआ, वे द्वार से बारात लौटा लाये।

विट्ठलदास ने लम्बी साँस लेकर कहा, यह तो बड़ा अन्याय हुआ। आपने अपने भाई साहब को समझाया नहीं?

पद्म—अपने से जो कुछ बन पड़ा सब करके हार गया।

विट्ठल—देखिए, अब बेचारी लड़की की क्या गति होती है। सुमन सुनेगी तो रोयेगी।

पद्म—कहिए, यहाँ की क्या खबरें हैं। सुमन के आने से विधवाओं में हलचल तो नहीं मची? वे उससे घृणा तो अवश्य ही करती होंगी।

विट्ठल—बात खुल जाय तो आज आश्रम खाली नजर आये।

पद्म—और सुमन कैसे रहती है?

विट्ठल—ऐसी अच्छी तरह मानों वह सदा आश्रम में ही रही है। सब काम करने को तैयार और प्रसन्न चित्त से। अन्य स्त्रियाँ सोती ही रहती हैं और वह उनके कमरों में झाड़ू दे जाती है। कई विधवाओं को सीना सिखाती है, कई उससे गाना सीखती हैं। सब प्रत्येक बात में उसी की राय लेती हैं। इस चहारदिवारी के भीतर उसी का राज्य है। मुझे कदापि ऐसी आशा न थी। यहाँ उसने कुछ पढ़ना भी शुरू कर दिया है। और, भाई, मन का हाल तो ईश्वर जाने, देखने में तो अब उसकी बिलकुल काया पलट-सी हो गयी है।

पद्म—नहीं साहब, वह स्वभाव की बुरी स्त्री नहीं है। मेरे यहाँ महीनों आती रही थी। मेरे घर में उसकी बड़ी प्रशंसा किया करती थीं (यह कहते-कहते झेंप गये)। कुछ ऐसे कुसंस्कार ही हो गये जिन्होंने उससे यह अभिनय कराये। सच पूछिए तो हमारे पापों का दण्ड उसे भोगना पड़ा। हाँ, कुछ उधर का समाचार भी मिला? सेठ बलभद्रदास ने और कोई चाल चली?

विट्ठल—हाँ साहब, वे चुप बैठनेवाले आदमी नहीं हैं। आजकल खूब दौड़-धूप हो रही है। दो-तीन दिन हुए हिन्दू मेम्बरों की एक सभा भी हुई थी। मैं तो जा न सका, पर विजय उन्हीं लोगों की रही। अब प्रधान के २ वोट मिलाकर उनके पास ६ वोट हैं और हमारे पास कुल चार मुसलमानों के वोट मिलाकर बराबर हो जायँगे।

पद्म—तो हमको कम-से-कम एक वोट मिलना चाहिए। है इसकी कोई आशा?

विट्ठल—मुझे तो कोई आशा नहीं मालूम होती।

पद्म—अवकाश हो तो चलिए, जरा डाक्टर साहब और लाला भगतराम के पास चलें।

विट्ठल—हाँ, चलिए, मैं तैयार हूँ।

यद्यपि डाक्टर साहब का बँगला बहुत निकट ही था, पर इन दोनों आदमियों ने एक किराये की गाड़ी की। डाक्टर साहब के यहाँ पैदल जाना फैशन के विरुद्ध था।

१० बजे थे। डाक्टर साहब अपने सुसज्जित कमरे में बैठे हुए अपनी बड़ी लड़की मिस कान्ति से शतरंज खेल रहे थे। मेज पर दो टेरियर कुत्ते बैठे हुए बड़े ध्यान से शतरंज की चालों को देख रहे थे और कभी-कभी जब उनकी समझ में खिलाड़ियों से कोई भूल हो जाती थी तो पंजों से मोहरों को उलट-पलट देते थे। मिस कान्ति उनकी इस शरारत पर हँसकर अँग्रेजी में कहती थीं, 'यू नाटी!'

मेज की बाईं ओर एक आराम कुर्सी पर सैयद तेगअली साहब विराजमान थे और बीच-बीच में मिस कान्ति को चालें बताते थे

इतने में हमारे दोनों मित्र जा पहुँचे। डाक्टर साहब ने उठकर दोनों सज्जनों से हाथ मिलाया। मिस कान्ति ने उनकी ओर दबी निगाहों से देखा और मेज पर से एक पत्र उठाकर पढ़ने लगी।

डाक्टर साहब ने अंग्रेजी में कहा, मैं आप लोगों से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ। आइए आप लोगों को मिस कान्ति से इन्ट्रोड्यूस करा दूँ।

परिचय हो जाने पर मिस कान्ति ने दोनों आदमियों से हाथ मिलाया और हँसती हुई बोलीं, बाबा अभी आप लोगों का जिक्र कर रहे थे। मैं आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुई।

डाक्टर श्यामाचरण—मिस कान्ति अभी डलहौजी पहाड़ से आयी है। इसका स्कूल जाड़े में बन्द हो जाता है। वहाँ शिक्षा का बहुत उत्तम प्रबन्ध है। यह अँगरेजों की लड़कियों के साथ बोर्डिङ्ग हाउस में रहती है। लेडी प्रिंसिपल ने अबकी इसकी प्रशंसा की है। कान्ति, जरा अपनी लेडी प्रिंसिपल की चिट्ठी इन्हें दिखा दो। मिस्टर शर्मा, आप कान्ति की अंगरेजी बातें सुनकर दंग रह जायँगे। (हँसते हुए) यह मुझे कितने ही नये मुहाविरे सिखा सकती है।

मिस कान्ति ने लजाते हुए अपना प्रशंसापत्र पद्मसिंह को दिखाया। उन्होंने उसे पढ़कर कहा, आप लैटिन भी पढ़ती हैं?

डाक्टर साहब ने कहा, लैटिन में अब की परीक्षा में इन्हें एक पदक मिला है। कल क्लब में कान्ति ने ऐसा अच्छा गेम दिखाया कि अंगरेज लेडियाँ दंग रह गयीं। हाँ, अब की बार आप हिन्दू मेम्बरों के जलसे में नहीं थे?

पद्म—जी नहीं, मैं जरा मकान पर चला गया था।

डाक्टर—आप ही के प्रस्ताव पर विचार किया गया। मैं तो उचित समझता हूँ कि अभी उसे बोर्ड में पेश करने में जल्दी न करें। अभी सफलता की बहुत कम आशा है।

तेगअली बोले, जनाब, मुसलमान मेम्बरों की तरफ से तो आपको पूरी मदद मिलेगी।

डाक्टर—हाँ, लेकिन हिन्दू मेम्बरों में तो मतभेद है।

पद्म—आपकी सहायता हो जाय तो सफलता में कोई संदेह न रहे।

डाक्टर—मुझे इस प्रस्ताव से पूरी सहानुभूति है, लेकिन आप जानते हैं, मैं गवर्नमेण्ट का नामजद किया हुआ मेम्बर हूँ। जब तक यह न मालूम हो जाय कि गवर्नमेण्ट इस विषय को पसन्द करती है या नहीं, तब तक मैं ऐसे सामाजिक प्रश्न पर कोई राय नहीं दे सकता।

११ बज गये थे। श्यामाचरण ने पद्मसिंह से कहा, मेरे भोजन का समय अब आ गया, अब जाता हूँ। आप सन्ध्या समय मुझसे मिलिएगा।

पद्मसिंह ने कहा, हाँ, हाँ, शौक से जाइए। उन्होंने सोचा, जब ये भोजन में जरा-सी देर हो जाने से इतना घबराते हैं तो दूसरों से क्या आशा की जाय? लोग जाति और देश के सेवक तो बनना चाहते हैं, पर जरा-सा भी कष्ट नहीं उठाना चाहते।

लाला भगतराम धूप में तख्ते पर बैठे हुक्का पी रहे थे। उनकी छोटी लड़की गोद में बैठी हुई धुएँ को पकड़ने के लिए बार-बार हाथ बढ़ाती थी। सामने जमीन पर कई मिस्त्री और राजगीर बैठे हुए थे। भगतराम पद्मसिंह को देखते ही उठ खड़े हुए और पालागन करके बोले, मैंने शाम ही को सुना था कि आप आ गये, आज प्रातःकाल आनेवाला था, लेकिन कुछ ऐसा झंझट आ पड़ा कि अवकाश ही न मिला। आपने सुना होगा, हिन्दू मेम्बरों का जलसा हो गया।

पद्म—हाँ, सुना और सुनकर शोक हुआ। आपसे मुझे पूरी आशा थी। क्या आप इस सुधार को उपयोगी नहीं समझते?

भगतराम—इसे केवल उपयोगी ही नहीं समझता, बल्कि हृदय से इसकी सहायता करना चाहता हूँ, पर मैं अपनी राय का मालिक नहीं हूँ। मैंने अपने को स्वार्थ के हाथों में बेच दिया है। मुझे आप ग्रामोफोन का रेकार्ड समझिए, जो कुछ भर दिया जाता है वही कह सकता हूँ और कुछ नहीं।

पद्मसिंह—लेकिन आप यह तो मानते हैं कि जाति के हित में स्वार्थ से पार्थक्य होना चाहिए।

भगतराम—जी हाँ, इसे सिद्धान्त रूप से मानता हूँ, पर इसे व्यवहार में लाने की शक्ति नहीं रखता। आप जानते होंगे, मेरा सारा कारबार सेठ चिम्मनलाल की मदद से चलता है। अगर उन्हें नाराज कर लूँ तो यह सारा ठाठ बिगड़ जाय। कम-से-कम ३००) मासिक गृहस्थी का खर्च है। जाति के लिए मैं स्वयं कष्ट झेलने के लिए तैयार हूँ, पर अपने बच्चों को कैसे निरवलम्ब कर दूँ।

पद्मसिंह समझ गये कि इनसे कोई आशा नहीं। बोले, ऐसी अवस्था में आप पर कैसे जोर दे सकता हूँ। मुझे केवल एक वोट की फिक्र है, कोई उपाय बतलाइए, कैसे मिले?

भगत—कुँवर साहब के यहाँ जाइए। ईश्वर चाहेंगे तो उनका वोट आपको मिल जायगा। सेठ बलभद्रदास ने उन पर २०००) की नालिश की है। कल उनकी डिगरी भी हो गयी। कुँवर साहब इस समय बलभद्रदास से तने हुए हैं, वश चले तो गोली मार दें। फँसाने का एक लटका आपको और बताये देता हूँ। उन्हें किसी सभा का प्रधान बना दीजिए। बस, उनकी नकेल आपके हाथ में हो जायगी।

पद्मसिंह ने हँसकर कहा, अच्छी बात है; उन्हीं के यहाँ चलता हूँ।

दोपहर हो गयी थी, लेकिन पद्मसिंह को भूख-प्यास न थी। बग्घी पर बैठकर चले। कुँवर साहब बरुना किनारे एक बँगले में रहते थे। आध घण्टे में जा पहुँचे।

कुँवर साहब ने शर्माजी का बड़े प्रेम से स्वागत किया—आइए महाशय, आपके तो दर्शन दुर्लभ हो गये। घर से कब आये?

पद्मसिंह—कल आया हूँ।

कुँवर—चेहरा उतरा हुआ है, बीमार थे क्या?

पद्म—जी नहीं, बहुत अच्छी तरह हूँ।

कुँवर—कुछ जलपान कीजिएगा?

पद्म—नहीं क्षमा कीजिए, इस समय मैं आपकी सेवा में किसी और ही काम से आया हूँ। मैंने सुना है कि हिन्दू मेम्बरों के जलसे में आपने सेठों का पक्ष ग्रहण किया।

कुँवर साहब ठठाकर हँसे। उनकी हँसी कमरे में गूँज उठी। पीतल की ढाल जो दीवार से लटक रही थी इस झनकार से थरथराने लगी। बोले, सच कहिए, आपने किससे सुना?

पद्मसिंह इस कुसमय हँसी का तात्पर्य न समझकर कुछ भौंचक-से हो गये। उन्हें मालूम हुआ कि कुँवर साहब मुझे बनाना चाहते हैं। चिढ़कर बोले, सभी कह रहे थे, किस किस का नाम लूँ?

कुँवर साहब ने फिर जोर से कहकहा मारा और हँसते हुए पूछा, और आपको विश्वास भी आ गया?

पद्मसिंह को अब इसमें कोई संदेह न रहा कि यह सब मुझे झेंपाने का स्वाँग है, जोर देकर बोले, अविश्वास करनेके लिए मेरे पास कोई कारण नहीं है।

कुँवर—कारण यही है कि मेरे साथ घोर अन्याय होगा। मैंने अपनी समझ में अपनी सम्पूर्ण वाक्शक्ति आपके प्रस्ताव के समर्थन में खर्च कर दी थी। यहाँ तक कि मैंने विरोध को गम्भीर विचार के लायक भी न सोचा, व्यंग्योक्ति ही से काम लिया। (कुछ याद करके) हाँ, एक बात हो सकती है। समझ गया। (फिर कहकहा मारकर) अगर यह बात है तो मैं कहूँगा कि म्युनिसिपैलिटी बिल्कुल बछिया के ताऊ लागों ही से भरी हुई है। व्यंग्योक्ति तो आप समझते ही होंगे। बस, यह सारा कसूर उसी का है। किसी सज्जन ने उसका भाव न समझा। काशी के सुशिक्षित सम्मानित म्युनिसिपल कमिश्नरों में किसी ने भी एक साधारण-सी बात न समझी। शोक! महाशोक! महाशय, आपको बड़ा कष्ट हुआ। क्षमा कीजिए। मैं इस प्रस्ताव का हृदय से अनुमोदन करता हूँ।

पद्मसिंह भी मुस्कराये। कुँवर साहब की बातों पर विश्वास आया। जब यहाँ से चले तो उनका मन ऐसा प्रसन्न था मानो वह किसी बड़े रमणीक स्थान की सैर करके आते हों। कुँवर साहब के प्रेम और शील ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

३०

सदन जब घर पहुँचा तो उसके मन की दशा उस मनुष्य की-सी थी जो बरसों की कमाई लिए, मन में सहस्रों मन्सूबे बाँधता, हर्ष से उल्लसित घर आये और वहाँ सन्दूक खोलने पर उसे मालूम हो कि थैली खाली पड़ी है।

विचारों की स्वतंत्रता विद्या, संगति और अनुभव पर निर्भर होती है। सदन इन सभी गुणों से रहित था। यह उसके जीवन का वह समय था जब हमें अपने धार्मिक विषयों पर, अपनी सामाजिक रीतियों पर एक अभिमान-सा होता है। हमें उनमें कोई त्रुटि दिखायी नहीं देती, जब हम अपने धर्म के विरुद्ध कोई प्रमाण या दलील सुनने का साहस नहीं कर सकते, तब हमसे क्या और क्यों का विकास नहीं होता। सदन को घर से निकल भागना स्वीकार होता, इसके बदले कि वह घर की स्त्रियों को गंगा नहलाने ले जाय। अगर स्त्रियों की हँसी की आवाज कभी मरदाने में जाती तो वह तेवर बदले घर में आता और अपनी मा को आड़े हाथों लेता। उसने देखा था कि उसके गाँव में एक ठाकुर ने एक बेड़िन बैठा ली थी तो सारे गाँव ने उसके द्वार पर आना जाना छोड़ दिया था और इस तरह उसके पीछे पड़े कि उसे विवश होकर बेड़िन को घर से निकालना पड़ा। निःसन्देह वह सुमनबाई पर जान देता था, लेकिन उसके लौकिक शास्त्र में यह प्रेम उतना अक्षम्य न था जितना सुमन की परछाईं का उसके घर में आ जाना। उसने अब तक सुमन के यहाँ पान तक न खाया। वह अपनी कुल-मर्यादा और सामाजिक प्रथा को अपनी आत्मा से कहीं बढ़कर महत्व की वस्तु समझता था। उस अपमान और निन्दा की कल्पना ही उसके लिए असह्य थी जो कुलटा स्त्री से सम्बन्ध हो जाने के कारण उसके कुल पर आच्छादित हो जाती। वह जनवासे में पण्डित पद्मसिंह की बातें सुन-सुनकर अधीर हो रहा था। वह डरता था कि कहीं पिताजी उनकी बातों में न आ जायँ। उसकी समझ में न आता कि चाचा साहब को क्या हो गया है? अगर यही बातें किसी दूसरे मनुष्य ने की होती तो वह अवश्य उसकी जबान पकड़ लेता।

इधर से निराश होकर सदन का लालसापूर्ण हृदय फिर सुमन की ओर लपका। वह पद्मसिंह के साथ ही काशी चला आया। किन्तु यहाँ आकर वह एक बड़ी दुविधा में पड़ गया। उसे संशय होने लगा कि कहीं सुमनबाई को ये सब समाचार मालूम न हो गये हों। वह वहाँ स्वयं तो न रही होगी, लोगों ने उसे अवश्य ही त्याग दिया होगा, लेकिन उसे विवाह की सूचना अवश्य दी होगी। ऐसा हुआ तो कदाचित् वह मुझसे सीधे मुँह बात न करेगी। सम्भव है वह मेरा तिरस्कार भी करे। लेकिन सन्ध्या होते ही उसने कपड़े बदले और दालमण्डी की ओर चला। प्रेम-मिलाप की आनन्दपूर्ण कल्पना के सामने वे शकाएँ निर्मूल हो गयीं। पर जिस प्रकार एक खिलाड़ी लड़का पाठशाला के द्वार पर आकर भीतर जाते हुए डरता है उसी प्रकार सदन दालमण्डी के सामने आकर ठिठक गया; उसकी प्रेमाकांक्षा मन्द हो गयी। वह धीरे-धीरे एक ऐसे स्थान पर आया जहाँ से सुमन की अट्टालिका साफ दिखायी देती थी। यहाँ से कातर नेत्रों से उस मकान के द्वार की ओर देखा। द्वार बन्द था, ताला पड़ा हुआ था। सदन के हृदय से एक बोझ-सा उतर गया। उसे कुछ वैसा ही आनन्द हुआ जैसा उस मनुष्य को होता है जो पैसा न रहने पर भी लड़के की जिद से विवश होकर खिलौने की दूकान पर जाता है और उसे बन्द पाता है।

लेकिन घर पहुँचकर सदन अपनी उदासीनता पर बहुत पछताया। वियोग की पीड़ा के साथ-साथ उसकी व्यग्रता बढ़ती जाती थी। उसे किसी प्रकार धैर्य न होता था। रात को जब सब लोग खा-पीकर सोये तो वह चुपके से उठा और दालमण्डी की ओर चला। जाड़े की रात थी, ठण्ढी हवा चल रही थी, चन्द्रमा कुहरे की आड़ से झाँकता था और किसी घबराये हुए मनुष्य के समान वेग से दौड़ता चला जाता था। सदन दाल-मण्डी तक बड़ी तेजी से आया, पर यहाँ आकर फिर उसके पैर बँध गये। हाथ-पैर की तरह उत्साह भी ठण्ढा पड़ गया। उसे मालूम हुआ कि इस समय यहाँ मेरा आना अत्यन्य हास्यास्पद है। सुमन के यहाँ जाऊँ तो वह

मुझे क्या समझेगी। उसके नौकर आराम से सो रहे होंगे। वहाँ कौन मुझे पूछता है। उसे आश्चर्य होता था कि मैं यहाँ कैसे चला आया ! मेरी बुद्धि उस समय कहाँ चली गयी। अतएव वह लौट पड़ा।

दूसरे दिन सन्ध्या समय वह फिर चला। मन में निश्चय कर लिया था कि अगर सुमन ने मुझे देख लिया और बुलाया तो जाऊँगा, नहीं तो सीधे अपनी राह चला जाऊँगा। उसका मुझे बुलाना ही बतला देगा कि उसका हृदय मेरी तरफ से साफ है। लेकिन ज्योंही वह दालमण्डी के सामने पहुँचा उसने सोचा, कहीं वह मुझे देखे और अपने मन में कहे, 'वह जा रहे हैं कुँवर साहब, मानों सचमुच किसी रियासत के मालिक हैं। कैसा कपटी धूर्त है !' यह सोचते ही उसके पैर बँध गये। आगे न जा सका।

इसी प्रकार कई दिन बीत गये। रात और दिन में उसकी प्रेम कल्पनाएँ जो बालू की दीवार खड़ी करतीं, वे सन्ध्या समय दालमंडी के सामने अविश्वास के एक हा झोंके में गिर पड़ती थीं।

एक दिन वह घूमते हुए कुइन्स पार्क जा निकला। वहाँ एक शामियाना तना हुआ था और लोग बैठे हुए प्रोफेर रमेशदत्त का प्रभावशाली व्याख्यान सुन रहे थे। सदन भी सुनने लगा। उसने मन में निश्चय किया कि वास्तव में वेश्याओं से हमारी बड़ी हानि हो रही है। ये समाज के लिए हलाहल के तुल्य हैं। मैं बहुत बचा, नहीं तो कहीं का न रहता। इन्हें अवश्य शहर के बाहर निकाल देना चाहिए। यदि ये बाजार में न होतीं तो मैं सुमन बाई के जाल में कभी न फँसता।

दूसरे दिन वह फिर कुईन्स पार्क की तरफ गया। आज वहाँ मुन्शी अबुलवफा का भावपूर्ण ललित व्याख्यान हो रहा था। सदन ने उसे भी ध्यान से सुना। उसने विचार किया, निस्सन्देह वेश्याओं से हमारा उपकार होता है। सच तो है, ये न हों तो हमारे देवताओं की स्तुति करनेवाला भी कोई न रहे। यह भी ठीक कहा कि वेश्यागृह ही वह स्थान है जहाँ हिन्दू-मुसलमान दिल खोलकर मिलते हैं, अवश्य ही उन्हें शहर से निकाल देना उन्हीं पर नहीं, वरन् सारे समाज पर घोर अत्याचार होगा।

कई दिन के बाद यह विचार फिर पलटा खाया। यह क्रम बन्द न होता था। सदन में स्वच्छन्द विचार की योग्यता न थी। वह किसी विषय के दोष और गुण तौलने और परखने की समर्थ्य न रखता था। अतएव प्रत्येक सबल युक्ति उसके विचारों को उलट-पलट देती थी।

उसने एक दिन पद्मसिंह के व्याख्यान का नोटिस देखा। तीन ही बजे से चलने की तैयारी करने लगा और चार बजे बेनीबाग में जा पहुँचा। पाँच बजते-बजते लोग आने लगे और आध घण्टे में वहाँ हजारों मनुष्य एकत्र हो गये।

पद्मसिंह का व्याख्यान अत्यन्त रोचक और करुणारस परिपूर्ण था। वह कह रहे थे कि हमने वेश्याओं को शहर से बाहर रखने का प्रस्ताव इसलिए नहीं किया कि हमें उनसे घृणा है। हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लायें, उनके जीवन को सुधारें और यह तभी हो सकता है, जब वे शहर से बाहर दुर्व्यसनो से दूर रहें। सदन तन्मय होकर इस व्याख्यान को सुनता रहा। जब उसके पासवाले मनुष्य व्याख्यान की प्रशंसा करते या बीच-बीच में करतल-ध्वनि होने लगती तो सदन का हृदय गद्‌गद हो जाता था।

सदन को व्याख्यानों की ऐसी चाट पड़ी कि जहाँ कहीं व्याख्यान होने की खबर पाता वहाँ अवश्य जाता। दोनों पक्षों की बातें महीनों सुनने और उनपर विचार करने से उसमें राय स्थिर करने की योग्यता आने लगी। अब वह किसी युक्ति की नवीनता पर एकाएक मोहित न हो जाता था, वरन् प्रमाणों के सत्यासत्य का निर्णय करने की चेष्टा करता था। उसमें समालोचक दृष्टि उत्पन्न हो गयी। उसने अपने चाचा का पक्ष ग्रहण कर लिया।

इन भावों का उसपर उतना प्रभाव पड़ा कि उसने दालमंडी की ओर जाना छोड़ दिया। उसका वश चलता तो इस समय वह दालमंडी की ईंट से-ईंट बजा देता। लेकिन सुमन अब भी उसके हृदय में बसी हुई थी। उसकी

प्रेम-कल्पनाओं से अब भी उसका हृदय सजग होता रहता था। सुमन का लावण्यमय स्वरूप उसकी आँखों से कभी न उतरता था, इन्हीं चिन्ताओं से बचने के लिए उसने एकांत में बैठना छोड़ दिया। बड़े सबेरे उठकर गंगास्नान करने चला जाता। रात को १०-११ बजे तक इधर-उधर की किताबें पढ़ता, लेकिन इतने यत्न करने पर भी सुमन उसकी स्मृति से न उतरती थी। वह नाना प्रकार के वेश धारण करके उसके हृदय-नेत्रों के सामने आती और कभी उससे रूठती, कभी मनाती, कभी प्रेम से गले में बाहें डालती, प्रेम से मुस्कराती। एकाएक सदन सचेत हो जाता। जैसे कोई नींद से चौंक पड़े और इन विघ्नकारी विचारों को मन से हटाने की चेष्टा करता। एक दिन उसे देर हो गयी, इसलिये वह उस घाट पर न गया जहाँ वह नित्य नहाया करता था। वहाँ भीड़भाड़ हो गयी होगी। अतएव उस घाट पर गया जहाँ विधवाश्रम स्थित था। वहाँ एकांत रहता था। दूर होने के कारण शहर के लोग वहाँ कम जाते थे।

घाट के निकट पहुँचने पर सदन ने एक स्त्री को घाट की ओर से आते देखा। तुरन्त पहचान गया। यह सुमन थी, पर कितनी बदली हुई। न वह लंबे-लंबे केश थे, न वह कोमल गति, न वह हँसते हुए गुलाब के-से होंठ, न वह चंचल ज्योति से चमकती हुई आँखें, न वह बनाव-सिंगार, न वह रत्नजटित आभूषणों की छटा; वह केवल सफेद साड़ी पहने हुए थी। उसकी चाल में गंभीरता और मुख से नैराश्य और वैराग्य का भाव झलकता था। काव्य वही था, पर अलंकार-विहीन, इसलिए सरल और मार्मिक। उसे देखते ही सदन प्रेम से विह्वल होकर कई पग बड़े वेग से चला पर उसका यह रूपांतर देखा तो ठिठक गया, मानों उसे पहचानने में भूल हुई, मानों वह सुमन नहीं कोई और स्त्री थी। उसका प्रेमोत्साह भंग हो गया। समझ में न आया कि यह कायापलट क्यों हो गयी? उसने फिर सुमन की ओर देखा, वह उसकी ओर ताक रही थी, पर उसकी दृष्टि में प्रेम की जगह एक प्रकार की चिंता थी, मानों वह उन पिछली बातों को भूल गयी है या भूलना चाहती है, मानों वह हृदय की दबी आग को

उभारना नहीं चाहती। सदन को ऐसा अनुमान हुआ कि वह मुझे नीच, धोखेबाज और स्वार्थी समझ रही है। उसने एक क्षण के बाद फिर उसकी ओर देखा, यह निश्चय करने के लिए कि मेरा अनुमान भ्रांतिपूर्ण तो नहीं है। फिर दोनों की आँखें मिलीं पर मिलते ही हट गयीं। सदन को अपने अनुमान का निश्चय हो गया। निश्चय के साथ ही अभिमान का उदय हुआ। उसने अपने मन को धिक्कारा। फिर उन्हीं कुवासनाओं में पड़ गया। उसने फिर सुमन की तरफ नहीं देखा। वह सिर झुकाये उसके सामने से निकल गयी। सदन ने देखा, उसके पैर काँप रहे थे। वह जगह से न हिला, कोई इशारा भी नहीं किया। अपने विचार में उसने सुमन पर सिद्ध कर दिया कि अगर तुम मुझसे एक कोस भागोगी तो मैं तुमसे सौ कोस भागने को प्रस्तुत हूँ। पर उसे यह ध्यान न रहा कि मैं अपनी जगह पर मूर्तिवत् खड़ा हूँ। जिन भावों को उसने गुप्त रखना चाहा, स्वयं उन्हीं भावो की मूर्ति बन गया।

जब सुमन कुछ दूर निकल गयी तो वह लौट पड़ा और उसके पीछे अपने को छिपाता हुआ चला। वह देखना चाहता था कि सुमन कहाँ जाती है। विवेक ने वासना के आगे सिर झुका लिया।

३१

जिस दिन से बारात लौट गयी, उसी दिन से कृष्णचन्द्र फिर घर से बाहर नहीं निकले। मन मारे हुए अपने कमरे में बैठे रहते। उन्हें अब किसी को अपना मुँह दिखाते लज्जा आती थी। दुश्चरित्रा सुमन ने उन्हें संसार की दृष्टि में चाहे कम गिराया हो, पर वे अपनी दृष्टि से कहीं के न रहे। वे अपने अपमान को सहन न कर सकते थे। हाय! मैं जानता कि वह यों मर्यादा का नाश करेगी तो मैंने उसका गला घोंट दिया होता। यह मैं जानता हूँ कि वह अभिमानिनी थी, किसी बड़े धनी कुल में रहने योग्य थी, भोग-विलास पर जान देती थी, पर यह मैं न जानता था कि उसकी आत्मा इतनी निर्बल है। मैं सुमन को इसका दण्ड दूँगा। जिन हाथों से उसे

पाला, खिलाया, उन्हीं हाथों से उसके गले पर तलवार चलाऊँगा। यही आँखें कभी उसे खेलती देखकर प्रसन्न होती थीं, अब उसे रक्त में लोटती देखकर तृप्त होंगी। मिटी हुई मर्यादा के पुनरुद्धार का इसके सिवा कोई उपाय नहीं। संसार को मालूम हो जायगा कि कुल-मर्यादा पर मरनेवाले पापाचरण का क्या दंड देते हैं।

सन्ध्या का समय था। कृष्णचन्द्र ने आज हत्या-मार्ग पर चलने का निश्चय कर लिया था। इस समय उनका चित्त कुछ उदास था। यह वही उदासीनता थी जो किसी भयंकर काम के पहले चित्त पर आच्छादित हो जाया करती है। कई दिनों तक क्रोध के वेग से उत्तेजित और उन्मत्त रहने के बाद उनका मन इस समय कुछ शिथिल हो गया था, जैसे वायु कुछ समय तक वेग से चलने के बाद शान्त हो जाती है। चित्त की ऐसी अवस्था में यह उदासीनता बहुत ही उपयुक्त होती है। उदासीनता वैराग्य का एक सूक्ष्म स्वरूप है जो थोड़ी देर लिए मनुष्य को अपने जीवन पर विचार करने की क्षमता प्रदान कर देती है, उस समय कि जब पूर्वस्मृतियाँ हृदय में क्रीड़ा करने लगती हैं। कृष्णचन्द्र को वह दिन याद आ रहे थे जब उनका जीवन आनन्दमय था, जब वे नित्य सन्ध्या समय अपनी दोनों पुत्रियों को साथ लेकर सैर करने जाया करते थे। कभी सुमन को गोद उठाते, कभी शान्ता को। जब वे लौटते तो गंगाजली किस तरह प्रेम से दौड़कर दोनों लड़कियों को प्यार करने लगती थी। उनकी आँखों से आँसू की बूँदें टपक पड़ीं। हाय! उस आनन्दमय जीवन का ऐसा विषादमय अन्त हो रहा है! मैं अपने ही हाथों से अपनी ही गोद की खेलायी हुई लड़की का बध करने को प्रस्तुत हो रहा हूँ। कृष्णचन्द्र को सुमन पर दया आयी। लेकिन यह दया का भाव कृष्णचन्द्र के हृदय में देर तक न रह सका।

इतने में पण्डित उमानाथ उनके पास आकर बैठ गये और बोले, वकील के पास गया था। उनकी सलाह है कि मुकदमा दायर करना चाहिए।

कृष्णचन्द्र ने चौंककर पूछा—कैसा मुकदमा?

उमा—उन्हीं लोगों पर, जो द्वार से बारात लौटा ले गये।

कृष्ण—इससे क्या होगा?

उमा—इससे यह होगा कि या तो वह फिर कन्या से विवाह करेंगे या हरजाना देंगे।

कृष्ण—पर क्या और बदनामी न होगी?

उमा—बदनामी जो कुछ होनी थी हो चुकी, अब इससे कहाँ तक डरूँ? मुझे भी अपनी दो लड़कियों का विवाह करना है। यह कलंक अपने माथे लगाकर उनके विवाह में क्यों बाधा डालूँ?

कृष्ण—तो तुम यह मुकदमा इसलिए दायर करते हो, जिसमें तुम्हारे नाम पर कोई कलंक न रहे?

उमानाथ ने सगर्व कहा, हाँ, अगर आप उसका यह अर्थ लगाते हैं तो यही सही। बारात मेरे द्वार से लौटी है, लोगों को भ्रम हो रहा है कि सुमन मेरी लड़की है। सारे शहर में मेरा ही नाम लिया जा रहा है। मेरा दावा दस हजार का होगा; अगर पाँच हजार की भी डिगरी हो गयी तो शांता का किसी उत्तम कुल में ठिकाना लग जायगा। आप जानते हैं, जूठी वस्तु को मिठास के लोभ से लोग खाते हैं। जब तक रुपए का लोभ न होगा शान्ता का विवाह कैसे होगा? एक प्रकार से मेरे कुल में भी कलंक लग गया। पहले लोग मेरे यहाँ सम्बन्ध करने में अपनी बड़ाई समझते थे ये अब बिना लंबी थैली के सीधे बात भी न करेंगे, समस्या यह है।

कृष्णचन्द्र ने कहा, अच्छी बात है, मुकदमा दायर कर दो। उमानाथ चले गये तो कृष्णचन्द्र ने आकाश की ओर देखकर कहा—प्रभो, अब उठा ले चलो, यह दुर्दशा नहीं सही जाती। आज उन्हें अपमान का वास्तविक अनुभव हुआ। उन्हें विदित हुआ कि सुमन को दण्ड देने से यह कलंक नहीं मिट सकता, जैसे साँप को मारने से उसका विष नहीं उतरता। उसकी हत्या करके उपहास के सिवाय और कुछ न होगा। पुलिस पकड़ेगी; महीनों इधर-उधर मारा-मारा फिरूँगा और इतनी दुर्गति के बाद फाँसी पर चढ़ा दिया जाऊँगा। इससे तो कहीं उत्तम यही है कि डूब मरूँ।

थोड़ी ही देर में शान्ता कृष्णचन्द्र को भोजन करने के लिए बुलाने आयी। विवाह के दिन से आज तक कृष्णचन्द्र ने उसे नहीं देखा था। इस समय उन्होंने उसकी ओर करुण नेत्रों से देखा। धुँधले दीपक के प्रकाश में उन्हें उसके मुख पर एक अलौकिक आभा दिखायी दी। उसकी आँखें निर्मल आत्मिक ज्योति से चमक रही थीं। शोक और मालिन्य का आभास तक न था। जब से उसने सदन को देखा था उसे अपने हृदय में एक स्वर्गीय विकास का अनुभव होता था। उसमें एक अद्भुत आत्मबल का उदय हो गया था। अपनी मामी से वह कभी सीधे मुँह बात न करती थी, पर आजकल घंटों बैठी उनके पैर दबाया करती, अपनी बहनों के प्रति अब उसे जरा भी ईर्ष्या न होती थी। वह अब हँसती हुई कुएँ से पानी खींच लाती थी, चक्की चलाने में उसे एक पवित्र आनन्द आता था। उसके जीवन में प्रेम का उद्भव हो गया था। सदन उसे न मिला, पर सदन से कहीं उत्तम वस्तु मिल गयी। वह सदन का प्रेम था।

कृष्णचन्द्र शान्ता का प्रफुल्ल वदन देखकर विस्मित ही नहीं भयभीत भी हो गये। उन्होंने उसकी ओर कातर नेत्रों से देखकर कहा, शान्ता!

शान्ता ने जिज्ञासु भाव से उनकी ओर देखा।

कृष्णचन्द्र कुण्ठित स्वर से बोले, आज चार वर्ष हुए कि मेरे जीवन की नाव भँवर में पड़ी हुई है। इस विपत्तिकाल ने मेरा सब कुछ हर लिया, पर अब अपनी सन्तान की दुर्गति नहीं देखी जाती। मैं जानता हूँ कि यह सब मेरे कुकर्म का फल है। अगर मैं पहले ही सावधान हो जाता तो आज तुम लोगों की यह दुर्दशा न होती। मैं अब बहुत दिन न जीऊँगा। अगर कभी अभागिनी सुमन से तुम्हारी भेंट हो जाय तो कह देना कि मैंने उसे क्षमा किया। उसने जो कुछ किया, उसका दोष मुझपर है।

यह कहते कहते कृष्णचन्द्र रुक गये। शान्ता चुपचाप खड़ी रही। अपने पिता पर उसे बड़ी दया आ रही थी। एक क्षण के बाद कृष्णचन्द्र बोले, मैं तुमसे भी एक प्रार्थना करता हूँ।

शान्ता—कहिए क्या आज्ञा है!

कृष्णचन्द्र—कुछ नहीं, यही कि संतोष को कभी मत छोड़ना। इस मंत्र से कठिन-से-कठिन समय में भी तुम्हारा मन विचलित न होगा।

शान्ता ताड़ गयी कि पिताजी कुछ और कहना चाहते थे, लेकिन संकोचवश न कहकर बात पलट दी। उनके मन में क्या था, यह उससे छिपा न रहा। उसने गर्व से सिर उठा लिया और साभिमान नेत्रों से देखा। उसकी इस विश्वासपूर्ण दृष्टि ने वह सब कुछ और उससे बहुत अधिक कह दिया जो वह अपनी वाणी से कह सकती थी। उसने मन में कहा, जिसे पातिव्रत जैसा साधन मिल गया है उसे और किसी साधन की क्या आवश्यकता? इसमें सुख, सन्तोष और शान्ति सब कुछ है।

आधी रात बीत चुकी थी। कृष्णचन्द्र घर से बाहर निकले। प्रकृति-सुंदरी किसी वृद्धा के समान कुहरे की मोटी चादर ओढ़े निद्रा में मग्न थी। आकाश में चंद्रमा मुँह छिपाये हुए वेग से दौड़ा चला जाता था, मालूम नहीं कहाँ!

कृष्णचन्द्र के मन में इस समय कोई इच्छा, कोई अभिलाषा, कोई चिन्ता न थी। संसार से उनका मन विरक्त हो गया था। वह चाहते थे कि किसी प्रकार जल्दी गंगातट पर पहुँचूँ और उसके अथाह जल में कूद पड़ूँ। उन्हें भय था कि कहीं मेरा साहस न छूट जाय। उन्होंने अपने संकल्प को उत्तेजित करने के लिए दौड़ना शुरू किया।

लेकिन थोड़ी ही दूर चलकर वह फिर ठिठक गये और सोचने लगे। पानी में कूद पड़ना ऐसा क्या कठिन है, जहाँ भूमि से पैर उखड़े कि काम तमाम हुआ। यह स्मरण करके उनका हृदय एक बार काँप उठा। अकस्मात् यह बात उनके ध्यान में आयी कि कहीं निकल क्यों न जाऊँ? जब यहाँ रहूँगा ही नहीं तो अपना अपमान कैसे सुनूँगा? लेकिन इस बात को उन्होंने मन में जमने न दिया। मोह की कपटलीला उन्हें धोखा न दे सकी। यद्यपि वह धार्मिक प्रकृति के मनुष्य नहीं थे और अदृश्य के एक अव्यक्त भय से उनका हृदय काँप रहा था, पर अपने संकल्प को दृढ़ रखने के लिए वह अपने मन को यह विश्वास दिला रहे थे कि परमात्मा बड़ा दयालु और करुणाशील है। आत्मा अपने को भूल गयी थी। वह उस बालक के समान

थी जो अपने किसी सखा के खिलौने तोड़ डालने के बाद अपने ही घर में जाते डरता है।

कृष्णचन्द्र इसी प्रकार आगे बढ़ते हुए कोई चार मील चले गये। ज्यों-ज्यों गङ्गातट निकट होता जाता था, त्यों-त्यों उनके हृदय की गति बढ़ती जाती थी। भय से चित्त अस्थिर हुआ जाता था। लेकिन वे इस आन्तरिक निर्बलता को कुछ तो अपने वेग और कुछ तिरस्कार से हटाने की चेष्टा कर रहे थे। हा! मैं कितना निर्लज्ज, आत्मशून्य हूँ। इतनी दुर्दशा होने पर भी मरने से डरता हूँ।

चन्द्रमा अस्त हो चुका था। कुहरा और भी सघन हो गया था। अंधकार ने वृक्ष, पहाड़ और आकाश में कोई अंतर न छोड़ा था। कृष्ण-चन्द्र एक पगडंडी पर चल रहे थे, पर दृष्टि की अपेक्षा अनुमान से अधिक काम लेना पड़ता था। पत्थर के टुकड़ों और झाड़ियों से बचने में वह ऐसे लीन हो रहे थे कि अपनी अवस्था का ध्यान न था।

करार के किनारे पहुँचकर उन्हें कुछ प्रकाश दिखाई दिया। वह नीचे उतरे। गङ्गा कुहरे की मोटी चादर ओढ़े पड़ी कराह रही थी। आस-पास के अंधकार और गङ्गा में केवल प्रवाह का अंतर था। वह प्रवाहित अंधकार था। ऐसी उदासी छायी हुई थी जो मृत्यु के बाद घरों मे छा जाती है।

कृष्णचन्द्र नदी के किनारे खड़े थे। उन्होंने विचार किया, हाय! अब मेरा अन्त कितना निकट है। एक पल में यह प्राण जानें कहाँ चले जायँगे। न जाने क्या गति होगी? संसार से आज नाता टूटता है। परमात्मन्, अब तुम्हारी शरण आता हूँ, मुझपर दया करो, ईश्वर, मुझे सँभालो।

इसके बाद उन्होने एक क्षण अपने हृदय में बल का संचार किया। उन्हें मालूम हुआ कि मैं निर्भय हूँ। वह पानी में घुसे। पानी बहुत ठंढा था। कृष्णचन्द्र का शरीर दहल उठा। वह घुसते हुए चले गये। गले तक पानी में पहुँचकर एक बार फिर विराट तिमिर को देखा, यह संसार-प्रेम की अन्तिम घड़ी थी, यह मनोबल की, आत्माभिमान की अन्तिम परीक्षा थी। अब तक उन्होंने जो कुछ किया था वह केवल इसी परीक्षा की तैयारी

थी। इच्छा और माया का अंतिम संग्राम था। माया ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इन्हें अपनी ओर खींचा। सुमन विदुषी वेष में दृष्टिगोचर हुई, शान्ता शोक की मूर्ति बनी हुई सामने आयी। अभी क्या बिगड़ा है? क्यों न साधु हो जाऊँ? मैं ऐसा कौन बड़ा आदमी हूँ कि संसार मेरे नाम और मर्यादा की चर्चा करेगा? ऐसी न जाने कितनी कन्याएँ पाप के फन्दे में फँसती हैं। संसार किसकी परवाह करता है? मैं मूर्ख हूँ, जो यह सोचता हूँ कि संसार मेरी हँसी उड़ायेगा। इच्छा-शक्ति ने कितना ही चाहा कि इस तर्क का प्रतिवाद करे, पर वह निष्फल हुई। एक डुबकी की कसर थी। जीवन और मृत्यु में केवल एक पग का अन्तर था। पीछे का एक पग कितना सुलभ था, कितना सरल! आगे का एक पग कितना कठिन था, कितना भयकारक।

कृष्णचन्द्र ने पीछे लौटने के लिए कदम उठाया। माया ने अपनी विलक्षण शक्ति का चमत्कार दिखा दिया। वास्तव में वह संसार-प्रेम नहीं था, वह अदृश्य का भय था।

उस समय कृष्णचन्द्र को अनुभव हुआ कि अब मैं पीछे नहीं फिर सकता। वह धीरे-धीरे आप ही आप खिसकते जाते थे। उन्होंने जोर से चीत्कार किया। अपने शीत शिथिल पैरों को पीछे हटाने की प्रबल चेष्टा की, लेकिन कर्म की गति कि वे आगे ही को खिसके। शोक, लज्जा और चिन्तातप्त हृदय का दाह शीतल जल में शान्त हो गया।

\+ \+ \+

प्रातःकाल यह शोक समाचार अमोला में फैल गया। इने-गिने सज्जनों को छोड़कर कोई भी उमानाथ के द्वार पर समवेदना प्रकट करने न आया। स्वाभाविक मृत्यु हुई होती तो सम्भवतः उनके शत्रु भी आकर चार आँसू बहा जाते, पर आत्मघात एक भयंकर समस्या है, यहाँ पुलिस का अधिकार है, इस अवसर पर मित्रदल ने भी शत्रुवत् व्यवहार किया।

उमानाथ ने जिस समय यह समाचार सुना उस समय वह कुँए पर नहा रहे थे। उन्हें लेशमात्र भी दुःख व कुतूहल नहीं हुआ। इसके प्रतिकूल

उन्हें कृष्णचन्द्र पर क्रोध आया, पुलिस के हथकंडों की शंका ने शोक को भी दबा दिया। उन्हें स्नान-ध्यान में उस दिन बड़ा विलंब लगा। संदिग्ध चित्त को अपनी परिस्थिति के विचार से अवकाश नहीं मिलता। वह समय ज्ञान रहित हो जाता है।

जाह्नवी ने बड़ा हाहाकार मचाया। उसे रोते देखकर उसकी दोनों बेटियाँ भी रोने लगीं। पास-पड़ोस की महिलाएँ समझाने के लिए आ गयीं। उन्हें पुलिस का भय नहीं था, पर वह आर्त्तनाद शीघ्र ही समाप्त हो गया। कृष्णचन्द्र के गुण-दोषों की विवेचना होने लगी। सर्वसम्मति ने स्थिर किया कि उनमें गुण की मात्रा दोष से बहुत थी।

सच्चा शोक शान्ता के सिवा और किसी को न हुआ। यद्यपि अपने पिता को वह सामर्थ्यहीन समझती थी, तथापि संसार में उसके जीवन का एक आधार मौजूद था। अपने पिता की हीनावस्था हा उसकी पितृभक्ति का कारण थी, अब वह सर्वथा निराधार हो गयी ! लेकिन नैराश्य ने उसके जीवन को उद्देश्यहीन नहीं होने दिया। उसका हृदय और भी कोमल हो गया। कृष्णचन्द्र ने चलते-चलते उसे जो शिक्षा दी थी, उसमें अब विलक्षण प्रेरणा-शक्ति का प्रादुर्भाव हो गया था। आज से शान्ता सहिष्णुता की मूर्ति बन गयी। पावस की अन्तिम बूँदों के सदृश मनुष्य की वाणी के अंतिम शब्द कभी निष्फल नहीं जाते। शान्ता अब मुँह से ऐसा कोई शब्द न निकालती, जिससे उसके पिता की आत्मा को दुःख हो।

मृतक संस्कारों से निवृत्त होकर उमानाथ मदनसिंह पर मुकदमा दायर करने की कार्यवाही में मग्न हो गये। वकील ने उन्हें विश्वास दिला दिया था कि तुम्हारी अवश्य विजय होगी। पाँच हजार रुपए मिल जाने से मेरा कितना कल्याण होगा, इस कल्पना ने उनकी शुभाकांक्षाओं को जागृत कर दिया था। एक दिन जाह्नवी से उन्होंने शान्ता के विवाह के विषय में कुछ बातचीत की। कहीं एक सुयोग्य वर मिलने की आशा थी। शान्ता ने यह बातें सुनीं। मुकदमे की बातें सुनकर भी उसे दुःख होता था, पर वह उसमें दखल देना अनुचित समझती थी। लेकिन विवाह की बातचीत

सुनकर वह चुप न रह सकी। एक प्रबल प्रेरक शक्ति ने उसकी लज्जा और संकोच को हटा दिया। ज्योंही उमानाथ चले गये, वह जाह्नवी के पास आकर बोली, क्या मैं तुम्हें इतना कष्ट देती हूँ कि मुझे फेंकने को पड़ी हुई है? तुम मामा से कह दो कि मेरे लिए कष्ट न उठायें।

जाह्नवी—तुम उनकी प्यारी भांजी हो, उनसे तुम्हारा दुःख नहीं देखा जाता। मैंने भी तो यही कहा था कि अभी रहने दो। जब मुकदमे का रुपया हाथ आ जाय तो निश्चित होकर करना, पर वह मेरी बात मानें तब तो?

शान्ता—मुझे वहीं क्यों नहीं पहुँचा देते?

जाह्नवी ने विस्मित होकर पूछा, कहाँ?

शान्ता ने सरल भाव से उत्तर दिया, चाहे चुनार, चाहे काशी।

जाह्नवी—कैसी बच्चों की-सी बातें करती हो! अगर ऐसा ही होता तो रोना काहे का था? तुम्हें उन्हें घर में रखना होता तो यह उपद्रव क्यों मचाते?

शान्ता—बहू बनाकर न रखें, लौण्डी बनाकर तो रखेंगे।

जाह्नवी अधीर हो गयी। यह निर्लज्जता उससे न सही गयी। बोली, चुप भी रहो, लाज-हया तो जैसे तुम्हें छू नहीं गयी। मान-न-मान मैं तेरा मेहमान। जो अपनी बात न पूछे वह चाहे धन्ना सेठ ही क्यों न हो, उसकी ओर आँख उठाकर न देखूँ। अपनी तो यह टेक है। अब वे लोग यहाँ आकर नकघिसनी भी करें तो तुम्हारे मामा दूर ही से भगा देंगे।

शान्ता चुप हो गयी। संसार चाहे जो कुछ समझता हो, वह अपने को विवाहिता ही समझती थी। एक विवाहिता कन्या का दूसरे घर में विवाह हो, यह उसे अत्यन्त लज्जाजनक, असह्य प्रतीत होता था। बारात आने के एक मास पहले से वह सदन के रूप-गुण की प्रशंसा सुन-सुनकर उसके हाथों बिक चुकी थी। उसने अपने द्वार पर, द्वारचार के समय, सदन को अपने पुरुष की भाँति देखा है, इस प्रकार नहीं मानों वह कोई अपरिचित मनुष्य है। अब किसी दूसरे पुरुष की कल्पना उसके सतीत्व पर कुठार के समान लगती थी। वह इतने दिनों तक सदन को अपना पति समझने के बाद उसे हृदय से निकाल न सकती थी, चाहे वह उसकी बात पूछे या न

पूछे, चाहे उसे अंगीकार करे या न करे।

शान्ता को अभी तक यह आशा थी कि कभी-न-कभी मैं पति के घर अवश्य जाऊँगी; कभी-न-कभी स्वामी के चरण में अवश्य आश्रय पाऊँगी; पर आज अपने विवाह की—या पुनर्विवाह को—बात सुनकर उसका अनुरक्त हृदय काँप उठा। उसने निस्संकोच होकर जाह्नवी से विनय की कि मुझे पति के घर भेज दो। पर जाह्नवी की निर्दयतापूर्ण उपेक्षा देखकर उसका धैर्य हाथ से जाता रहा। मन की चंचलता बढ़ने लगी। रात को जब सब सो गये तो उसने पद्मसिंह को एक विनय-पत्र लिखना शुरू किया। यह उसका अन्तिम साधन था। इसके निष्फल होने पर उसने कर्तव्य का निश्चय कर लिया था।

पत्र शीघ्र ही समाप्त हो गया। उसने पहले ही से कल्पना में उसकी रचना कर ली थी। केवल लिखना बाकी था—

"पूज्य धर्म-पिता के चरण-कमलों में सेविका शान्ता का प्रणाम स्वीकार हो। मैं बहुत दुःख में हूँ। मुझपर दया करके अपने चरणों में आश्रय दीजिए। पिताजी गंगा में डूब गये। यहाँ आप लोगों पर मुकदमा चलाने का प्रस्ताव हो रहा है। मेरे पुनर्विवाह की बातचीत हो रही है। शीघ्र सुधि लीजिए। एक सप्ताह तक आपकी राह देखूँगी। उसके बाद फिर आप इस अबला की पुकार न सुनेंगे।"

इतने में जाह्नवी की आँखें खुलीं। मच्छरों ने सारे शरीर में काँटे चुभो दिये थे। खुजलाते हुए बोली, शान्ता! यह क्या कर रही है?

शान्ता ने निर्भय होकर कहा, पत्र लिख रही हूँ।

'किसको?'

'अपने श्वसुर को।'

'चुल्लू-भर पानी में डूब नहीं मरती?'

'सातवें दिन मरूँगी।'

जाह्नवी ने कुछ उत्तर न दिया, फिर सो गयी। शान्ता ने लिफाफे पर पता लिखा और उसे अपनी कपड़ों की गठरी में रखकर लेट रही।

तीसरा पहर हो गया था, पद्मसिंह सोकर उठे थे और जम्हाइयाँ ले रहे थे। इसी समय डाकिये ने एक बैरंग चिट्ठी लाकर उन्हें दी। उन्होंने डाकिये की ओर अप्रसन्नता की दृष्टि से देखा मानों बैरंग चिट्ठी लाकर उसने कोई अपराध किया है। पहले तो उन्हें इच्छा हुई कि इसे लौटा दें, किसी दरिद्र मुवक्किल ने इसमें अपनी विपत्ति गायी होगी, लेकिन फिर सोचकर चिट्ठी ले ली और खोलकर पढ़ने लगे। यह शान्ता का पत्र था। उसे एक बार पढ़कर मेज पर रख दिया। एक क्षण के बाद फिर उठाकर पढ़ा और तब कमरे में टहलने लगे। इस समय यदि मदनसिंह वहाँ होते तो वह पत्र उन्हें दिखाते और कहते, यह आपके कुल-मर्यादाभिमान का—आपके लोक-निंदा-भय का फल है। आपने एक मनुष्य का प्राणघात किया, उसकी हत्या आपके सिर पड़ेगी। पद्मसिंह को मुकदमे की बात पढ़कर एक प्रकार का आनन्द-सा हुआ। बहुत अच्छा हो कि यह मुकद्मा दायर हो और उनकी कुलीनता का गर्व धूल में मिल जाय। उमानाथ की डिग्री अवश्य होगी और तब भाई साहब को ज्ञात होगा कि कुलीनता कितनी मँहगी वस्तु है। हाय! उस अबला कन्या के हृदय पर क्या बीत रही होगी? पद्मसिंह ने फिर उस पत्र को पढ़ा, उन्हें उसमें अपने प्रति श्रद्धा का स्रोत-सा बहता हुआ मालूम हुआ। इसने उनकी न्याय-प्रियता को उत्तेजित-सा कर दिया। 'धर्मपिता'—इस शब्द ने उन्हें वशीभूत कर लिया। उसने उनके हृदय में वात्सल्य के तार का स्वर कंपित कर दिया। वे कपड़े पहनकर विट्ठलदासके मकान पर जा पहुँचे। और उन्हें शांता का पत्र दिखाया।

विट्ठलदास ने कहा, अब क्या करना चाहते हैं?

पद्म—मेरी तो कुछ समझ ही में नहीं आता। जब से यह पत्र मिला है, ऐसा मालूम होता है मानों नदी में बहा जाता हूँ।

विट्ठल—शान्ता को बुला लाइए।

पद्म—सारे घर से नाता टूट जायगा।

विट्ठल—टूट जाय। कर्तव्य के सामने किसी का क्या भय?

पद्म—यह तो आप ठीक कहते हैं, पर मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं।

भैया को मैं अप्रसन्न करने का साहस नहीं कर सकता।

विट्ठल—अपने यहाँ न रखिए, विधवाश्रम में रख दीजिए, यह तो कठिन नहीं।

पद्म—हाँ, यह आपने अच्छा उपाय बताया। मुझे इतना भी न सूझा था। कठिनाई में मेरी बुद्धि चरने चली जाती है।

विट्ठल—लेकिन जाना आपको पड़ेगा।

पद्म—मैं और आप दोनों चलें।

विट्ठल—अच्छी बात है। तो कब?

पद्म—बस, आज तार देता हूँ कि हम लोग शान्ता को विदा कराने आ रहे हैं, परसों सन्ध्या की गाड़ी से चले चलें।

विट्ठल—निश्चय हो गया?

पद्म—हाँ, निश्चय हो गया।

४०

जब हम स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए किसी पहाड़ पर जाते हैं तो इस बात का विशेष यत्न करते हैं कि हमसे कोई कुपथ्य न हो। नियमित रूप से व्यायाम करते हैं, आरोग्य का उद्देश्य सदैव हमारे सामने रहता है। सुमन विधवाश्रम में आत्मिक स्वास्थ्य-लाभ करने गयी थी और अभीष्ट को एक क्षण के लिए भी न भूलती थी। वह अपनी अन्य बहनों की सेवा में तत्पर रहती और धार्मिक पुस्तकें पढ़ती। देवोपासना, स्नानादि में उसके व्यथित हृदय को शान्ति मिलती थी।

विट्ठलदास ने अमोला के समाचार उससे छिपा रखे थे, लेकिन जब शान्ता को आश्रम में रखने का विचार निश्चय हो गया तब उन्होंने सुमन को इसके लिए तैयार करना उचित समझा। उससे सारा समाचार कह सुनाया।

आश्रम में सन्नाटा छाया हुआ था। रात बहुत जा चुकी थी, पर सुमन को किसी भाँति नींद न आती थी। उसे आज अपने अविचार का यथार्थ स्वरूप दिखलाई दे रहा था। जिस प्रकार कोई रोगी क्लोरोफार्म लेने के पश्चात् होश में आकर अपने चीरे फोड़े के गहरे घाव को देखता

है और पीड़ा तथा भय से फिर मूर्छित हो जाता है वही दशा इस समय सुमन की थी। पिता, माता और बहन तीनों उसे अपने सामने बैठे हुए मालूम होते थे, माता लज्जा तथा दुःख से सिर झुकाये उदास हो रही थी, पिता खड़े उसकी ओर क्रोधोन्मत्त, रक्तवर्ण नेत्रों से ताक रहे थे और शान्ता शोक, नैराश्य और तिरस्कार की मूर्ति बनी हुई कभी धरती की ओर ताकती थी, कभी आकाश की ओर। सुमन का चित्त व्यग्र हो उठा! वह चारपाई से उठी और बलपूर्वक अपना सिर पक्की जमीन पर पटकने लगी। वह अपनी ही दृष्टि में एक पिशाचिनी मालूम होती थी। सिर में चोट लगने से उसे चक्कर आ गया। एक क्षण के बाद उसे चेत हुआ, माथे से रुधिर बह रहा था। उसने धीरे से कमरा खोला। आँगन में अँधेरा छाया हुआ था। वह लपकी हुई फाटक पर आयी, पर वह बन्द था, उसने ताले को कई बार हिलाया, पर वह न खुला। बुड्ढा चौकीदार फाटक से जरा हटकर सो रहा था। सुमन धीरे-धीरे उसके पास आयी और उसके सिर के नीचे कुंजी टटोलने लगी। चौकीदार हकबकाकर उठ बैठा और 'चोर! चोर!' चिल्लाने लगा। सुमन वहाँ से भागी और अपने कमरे में आकर किवाड़ बन्द कर लिये।

किन्तु सबेरे पवन के सदृश चित्त की प्रचण्ड व्यग्रता भी शीघ्र ही शान्त हो जाती है। सुमन खूब बिलखकर रोयी। हाय! मुझ जैसी डाइन संसार में न होगी, मैंने विलास-तृष्णा की धुन में अपने कुल का सर्वनाश कर दिया, मैं अपने पिता की घातिका हूँ, मैंने शान्ता के गले पर छुरी चलायी है, मैं उसे यह कालिमापूर्ण मुँह कैसे दिखाऊँगी? उसके सम्मुख कैसे ताकूँगी? पिताजी ने जिस समय यह बात सुनी होगी उन्हें कितना दुःख हुआ होगा! यह सोचकर वह फिर रोने लगी।

सुमन ने शेष रात मानसिक विकलता की दशा में काटी। चार बजने पर वह गंगास्नान को चली। वह बहुधा अकेले ही जाया करती थी; इसलिए चौकीदार ने कुछ पूछताछ न की।

सुमन गंगातट पर पहुँचकर इधर-उधर देखने लगी कि कोई है तो

नहीं। वह आज गंगा में नहाने नहीं, डूबने आयी थी। उसे कोई शंका, भय या घबराहट नहीं थी। कल किसी समय शान्ता आश्रम में आ जायगी। उसे मुँह दिखाने की अपेक्षा गंगा की गोद में मग्न हो जाना कितना सहज था।

अकस्मात् उसने देखा कि कोई आदमी उसकी तरफ चला आ रहा है। अभी कुछ-कुछ अँधेरा था, पर सुमन को इतना मालूम हो गया कि कोई साधु है। सुमन की अँगुली में एक अँगूठी थी। उसने उसे साधु को दान करने का निश्चय किया, लेकिन वह ज्योंही समीप आया, सुमन ने भय, घृणा और लज्जा से अपना मुँह छिपा लिया। यह गजाधर थे।

सुमन खड़ी थी और गजाधर उसके पैरों पर गिर पड़े और रुद्ध कण्ठ से बोले, मेरे अपराध क्षमा करो।

सुमन पीछे हट गयी, उसकी आँखों के सामने अपने अपमान का दृश्य खिंच गया। घाव हरा हो गया। उसके जी में आया कि इसे फटकारूँ, कहूँ कि तुम मेरे पिता के घातक, मेरे जीवन के नाश करनेवाले हो, पर कुछ गजाधर की अनुकम्पापूर्ण उदारता, कुछ उसका साधुवेश और कुछ विराग भाव ने, जो प्राणघात का संकल्प कर लेने के बाद उदित हो जाता है, उसे द्रवित कर दिया। उसके नयन सजल हो गये, करुण स्वर से बोली, तुम्हारा कोई अपराध नहीं है, जो कुछ हुआ वह सब मेरे कर्मों का फल था।

गजाधर—नहीं सुमन, ऐसा मत कहो, यह सब मेरी मूर्खता और अज्ञानता का फल है। मैंने सोचा था कि उसका प्रायश्चित्त कर सकूँगा, पर अपने अत्याचार का भीषण परिणाम देखकर मुझे विदित हो रहा है कि उसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता।

गजाधर की आत्मवेदना ने सुमन के हृदय पर वही काम किया, जो साबुन मैल के साथ करता है। उसने जमे हुए मालिन्य को काटकर ऊपर कर दिया। वह संचित भाव ऊपर आ गये जिन्हें वह गुप्त रखना चाहती थी। बोली, परमात्मा ने तुम्हें सद्बुद्धि प्रदान कर दी है। तुम अपनी सुकीर्ति से चाहे कुछ कर भी लो, पर मेरी क्या गति होगी, मैं तो दोनों लोकों से गयी!

हाय ! मेरी विलास-तृष्णा ने मुझे कहीं का न रखा ! अब क्या छिपाऊँ, तुम्हारे उस पाशविक, पैशाचिक व्यवहार का स्मरण होता है तो हृदय में एक ज्वाला-सी दहकने लगती है और अन्तःकरण से तुम्हारे प्रति शाप निकल जाता है। यह मेरा अन्तिम समय है, एक क्षण में यह पापमय शरीर गंगा में डूब जायगा, मैं पिताजी की शरण में पहुँच जाऊँगी। इसलिए ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि तुम्हारे अपराधों को क्षमा करें।

गजाधर ने चिंतित स्वर में कहा, सुमन, यदि प्राण देने से पापों का प्रायश्चित्त हो जाता तो मैं अब तक कभी प्राण दे चुका होता।

सुमन—कम से कम दुःखों का तो अन्त हो जायगा।

गजाधर—हाँ, तुम्हारे दुःखों का अन्त हो सकता है, पर उसके दुःखों का अंत न होगा जो तुम्हारे दुःखों से दुखी हो रहे हैं। यह भी सोचो कि तुम्हारे न रहने से उस अबला शान्ता की क्या गति होगी, जिसने अभी संसार के ऊँच-नीच का कुछ अनुभव नहीं किया है; तुम्हारे सिवा उसका संसार में कौन है ? वह किसकी होकर रहेगी ?

सुमन को गजाधर के कथन में सच्ची समवेदना की झलक दिखायी दी। उसने उसकी ओर करुणासूचक दृष्टि से देखकर कहा, शान्ता से मिलने की अपेक्षा मुझे प्राण देना सहज प्रतीत होता है। वह कल यहाँ आ जायगी। उसके सम्मुख जाने का भय, उससे आँखें मिलाने की लज्जा मुझे मारे डालती है। जब वह तिरस्कार की आँखों से मुझे देखेगी, उस समय मैं क्या करूँगी ? और जो कहीं उसने घृणावश मुझसे गले मिलने में संकोच किया, तब तो मैं उसी क्षण विष खा लूँगी। इस दुर्गति से तो प्राण दे देना ही अच्छा है।

गजाधर ने सुमन को श्रद्धाभाव से देखा। उन्हें अनुभव हुआ कि ऐसी अवस्था में मैं भी वही करता जो सुमन करना चाहती है। बोले, सुमन, तुम्हारे यह विचार यथार्थ हैं, पर तुम्हारे हृदय पर चाहे जो कुछ बीते, शान्ता के हित के लिए तुम्हें सब कुछ सहना पड़ेगा। तुमसे उसका जितना कल्याण हो सकता है उतना अन्य किसी से नहीं हो सकता। अब

तक तुम अपने लिए जीती थीं, अब दूसरों के लिए जीओ।

यह कह गजाधर जिधर से आये थे उधर ही चले गये। सुमन गंगाजी के तट पर देर तक खड़ी उनकी बातों पर विचार करती रही, फिर स्नान करके आश्रम की ओर चली, जैसे कोई मनुष्य समर में परास्त होकर घर की ओर जाता है।

३१

शान्ता ने पत्र तो भेजा, पर उसको उत्तर आने की कोई आशा न थी। तीन दिन बीत गये, उसका नैराश्य दिनोंदिन बढ़ता जाता था। अगर कुछ अनुकूल उत्तर न आया तो उमानाथ अवश्य ही उसका विवाह कर देंगे, यह सोचकर शान्ता का हृदय थरथराने लगता था। वह दिन में कई बार देवी के चबूतरे पर जाती और नाना प्रकार की मनौतियाँ करती। कभी शिवजी के मन्दिर में जाती और उनसे अपनी मनोकामना कहती। सदन एक क्षण के लिए भी उसके ध्यान से न उतरता। वह उसकी मूर्ति को हृदय-नेत्रों के सामने बैठाकर उससे कर जोड़कर कहती, प्राणनाथ, मुझे क्यों नहीं अपनाते? लोक-निन्दा के भय से! हाय, मेरी जान इतनी सस्ती है कि इन दामों बिके! तुम मुझे त्याग रहे हो, आग में झोंक रहे हो, केवल इस अपराध के लिए कि मैं सुमन की बहन हूँ! यही न्याय है! कहीं तुम मुझे मिल जाते, मैं तुम्हें पकड़ पाती, फिर देखती कि मुझसे कैसे भागते हो! तुम पत्थर नहीं हो कि मेरे आँसुओं से न पसीजते। तुम अपनी आँखों से एक बार मेरी दशा देख लेते तो फिर तुमसे न रहा जाता। हाँ, तुमसे कदापि न रहा जाता। तुम्हारा विशाल हृदय करुणाशून्य नहीं हो सकता। क्या करूँ, तुम्हें अपने चित्त की दशा कैसे दिखाऊँ?

चौथे दिन प्रातःकाल पद्मसिंह का पत्र मिला। शान्ता भयभीत हो गयी। उसकी प्रेमाभिलाषाएँ शिथिल पड़ गयीं। अपनी भावी दशा की शंकाओं ने चित्त को अशान्त कर दिया।

लेकिन उमानाथ फूले न समाये। बाजे का प्रबन्ध किया, सवारियाँ एकत्रित कीं, गाँव-भर में निमन्त्रण भेजे, मेहमानों के लिए चौपाल में

फर्श आदि बिछवा दिये। गाँव के लोग चकित थे, यह कैसा गौना है! विवाह तो हुआ ही नहीं, गौना कैसा! वह समझते थे कि उमानाथ ने कोई-न-कोई चाल खेली है। एक ही धूर्त है। निर्दिष्ट समय पर उमानाथ स्टेशन गये और बाजे बजवाते हुए मेहमानों को अपने घर लाये। चौपाल में उन्हें ठहराया। केवल तीन आदमी थे। पद्मसिंह, विट्ठलदास और एक नौकर।

दूसरे दिन सन्ध्या-समय बिदाई का मुहूर्त था, तीसरा पहर हो गया, किन्तु उमानाथ के घर में गाँव की कोई स्त्री नहीं दिखायी देती। वह बार-बार अन्दर जाते हैं, तेवर बदलते हैं, दीवारों को धमकाकर कहते हैं, मैं एक-एक को देख लूँगा। जाह्नवी से बिगड़कर कहते हैं कि मैं सबकी खबर लूँगा। लेकिन वह धमकियाँ जो कभी नंबरदारों को कंपायमान कर दिया करती थीं, आज किसी पर असर नहीं करतीं। बिरादरी अनुचित दबाव नहीं मानती। घमण्डियों का सिर नीचा करने के लिए वह ऐसे ही अवसरों की ताक में रहती है।

सन्ध्या हुई। कहारों ने पालकी द्वार पर लगा दी। जाह्नवी और शान्ता गले मिलकर खूब रोयीं।

शान्ता का हृदय प्रेम से परिपूर्ण था, इस घर में उसे जो-जो कष्ट उठाने पड़े थे वह इस समय भूल गये थे। इन लोगों से फिर भेंट न होगी, इस घर के अब फिर दर्शन न होंगे, इनसे सदैव के लिए नाता टूटता है, यह सोचकर उसका हृदय विदीर्ण हुआ जाता था। जाह्नवी का हृदय भी दया से भरा हुआ था। इस माता-पिता-विहीन बालिका को हमने बहुत कष्ट दिये यह सोचकर वह अपने आँसुओं को न रोक सकती थी। दोनों के हृदय में सच्चे, निर्मल, कोमल भावों की तरंगें उठ रही थीं।

उमानाथ घर में आये तो शान्ता उनके पैरों से लिपट गयी और विनय करती हुई कहने लगी, तुम्हीं मेरे पिता हो, अपनी बेटी को भूल न जाना। उमानाथ ने उसको संबोधन करते हुए कहा, बेटी, जैसी मेरी और दो बेटियाँ हैं वैसी ही तुम भी हो, परमात्मा तुम्हें सदा सुखी रखें। यह कह-

कर रोने लगे।

सन्ध्या का समय था, मुन्नी गाय घर में आयी तो शान्ता उसके गले लिपटकर रोने लगी। उसने तीन-चार वर्ष उस गाय की सेवा की थी। अब वह किसके लिए भूसी लेकर दौड़ेगी ? किसके गले में काले डोरे में कौड़ियाँ गूँथकर पहनायेगी ? मुन्नी सिर झुकाये उसके हाथों को चाटती थी। उसका वियोग-दुःख उसकी आँखों से झलक रहा था।

जाह्नवी ने शान्ता को लाकर पालकी में बैठा दिया, कहारों ने पालकी उठायी। शान्ता को ऐसा मालूम हुआ कि मानों वह अथाह सागर में बही जा रही है।

गाँव की स्त्रियाँ अपने द्वारों पर खड़ी पालकी को देखती थीं और रोती थीं।

उमानाथ स्टेशन तक पहुँचाने आये। चलते समय अपनी पगड़ी उतारकर उन्होंने पद्मसिंह के पैरों पर रख दी। पद्मसिंह ने उनको गले से लगा लिया।

जब गाड़ी चली तो पद्मसिंह ने विट्ठलदास से कहा, अब इस अभिनय का सबसे कठिन भाग आ गया।

विट्ठल—मैं नहीं समझा।

पद्म—क्या शान्ता से कुछ कहे-सुने बिना ही उसे आश्रम में पहुँचा दीजिएगा ? उसे पहले उसके लिए तैयार करना चाहिए।

विट्ठल—हाँ, यह आपने ठीक सोचा, तो जाकर कह दूँ ?

पद्म—एक बात मेरे ध्यान में आती है, मुगलसराय में देर तक रुकना पड़ेगा, बस वहीं उसके पास जाकर सब वृत्तान्त कह दूँगा।

विट्ठल—यह आप बहुत दूर की कौड़ी लाये, इसीलिए बुद्धिमानों ने कहा है कि कोई काम बिना भली-भाँति सोचे नहीं करना चाहिए। आपकी बुद्धि ठिकाने पर पहुँचती है, लेकिन बहुत चक्कर खाकर। यही बात आपको पहले न सूझी।

नौ बजे गाड़ी मुगलसराय पहुँच गयी। विट्ठलदास ने आकर शान्ता

को उतारा और दूर हटकर प्लेटफार्म पर ही एक कालीन बिछाकर उसे बिठा दिया। बनारस की गाड़ी खुलने में चार घण्टे की देर थी।

शान्ता ने देखा कि उसके देशवासी सिर पर बड़े-बड़े गट्ठर लादे एक सँकरे द्वार पर खड़े हैं और बाहर निकलने के लिए एक दूसरे पर गिरे पड़ते हैं। एक दूसरे तंग दरवाजे पर हजारों आदमी खड़े अन्दर आने के लिए धक्कमधक्का कर रहे हैं। लेकिन दूसरी ओर एक चौड़े दरवाजे से अंग्रेज लोग छड़ी घुमाते, कुत्तों को लिए आते-जाते हैं। कोई उन्हें नहीं रोकता, कोई उनसे नहीं बोलता।

इतने में पंडित पद्मसिंह उसके निकट आये और बोले, शान्ता, मैं तुम्हारा धर्म-पिता पद्मसिंह हूँ।

शान्ता खड़ी हो गयी और दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया।

पद्मसिंह ने कहा, तुम्हें आश्चर्य हो रहा होगा कि हम लोग चुनार क्यों नहीं उतरे? इसका कारण यही है कि अभी तक मैंने भाई साहब से तुम्हारे विषय में कुछ नहीं पूछा। तुम्हारा पत्र मिला तो मैं ऐसा घबड़ा गया कि मुझे तुम्हे बुलाना परमावश्यक जान पड़ा। भाई साहब से कुछ कहने-सुनने का अवकाश ही नहीं मिला। इसलिए अभी कुछ दिनो तक बनारस रहना पड़ेगा। मैंने यह उचित समझा है कि तुम्हें उसी आश्रम में ठहराऊँ जहाँ आजकल तुम्हारी बहन सुमनबाई रहती है। सुमन के साथ रहने से तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होगा। तुमने सुमन के विषय में जो कलंकित बातें सुनी हैं, उन्हें हृदय से निकाल डालो। अब वह देवी है। उसका जीवन सर्वथा निर्दोष और उज्ज्वल हो गया है। यदि ऐसा न होता तो मैं अपनी धर्मपुत्री को उसके साथ रखने पर कभी तैयार न होता। महीने दो महीने में मैं भैया को ठीक कर लूँगा। यदि तुम्हें इस प्रबन्ध में कुछ आपत्ति हो तो मुझसे साफ-साफ कह दो कि कोई और प्रबन्ध करूँ।

शान्ता रोते हुए पद्मसिंह के चरणों पर गिर पड़ी और लज्जा, नैराश्य तथा विषाद से भरे हुए यह शब्द उसके मुख से निकले, आपकी शरण हूँ, जो उचित समझिये वह कीजिए।

शान्ता का हृदय बहुत हल्का हो गया। अब उसे अपने भविष्य के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता न रही, उसे कुछ दिनों के लिए अपना जीवन मार्ग निश्चित मालूम होने लगा। वह इस समय उस मनुष्य के सदृश थी जो अपने झोपड़े में आग लग जाने से इसलिए प्रसन्न हो कि कुछ देर के लिए वह अन्धकार के भय से मुक्त हो जायगा।

ग्यारह बजे ये तीनों प्राणी आश्रम में पहुँच गये। विट्ठलदास उतरे कि जाकर सुमनबाई को खबर दूँ, पर वहाँ जाकर देखा तो वह बुखार में बेसुध पड़ी थी। आश्रम की कई स्त्रियाँ उसकी सुश्रूषा में लगी हुई थीं। कोई पंखा झलती थी, कोई उसका सिर दबाती थी, कोई पैरों को मल रही थी। बीच-बीच में कराहने की ध्वनि सुनाई देती थी। विट्ठलदास ने घबराकर पूछा, डाक्टर को बुलाया था? उत्तर मिला, हाँ, वे देखकर अभी गये हैं।

कई स्त्रियों ने शान्ता को गाड़ी से उतारा। शान्ता सुमन की चारपाई के पास खड़ी होकर बोली, "जीजी!" सुमन ने आँखें न खोलीं। शान्ता मूर्तिवत् खड़ी अपनी बहन को करुण तथा सजल नेत्रों से देख रही थी। यही मेरी प्यारी बहन है, जिसके साथ मैं तीन-चार साल पहले खेलती थी। वह लम्बे-लम्बे काले केश कहाँ हैं? वह कुन्दन-सा दमकता हुआ मुखचन्द्र कहाँ है? वह चंचल, सजीव, मुस्कराती हुई आँखें कहाँ गयीं? वह कोमल चपल गात, वह इंगुर-सा भरा हुआ शरीर, वह अरुणवर्ण कपोल कहाँ लुप्त हो गये? यह सुमन है या उसका शव, अथवा उसकी निर्जीव मूर्ति? उस वर्णहीन मुख पर विरक्ति, संयम तथा आत्मत्याग की निर्मल, शान्ति-दायिनी ज्योति झलक रही थी। शान्ता का हृदय क्षमा और प्रेम से उमड़ उठा। उसने अन्य स्त्रियों को वहाँ से हट जाने का संकेत किया और तब वह रोती हुई सुमन के गले से लिपट गई और बोली—जीजी, आँखें खोलो, जी कैसा है? तुम्हारी शान्ति खड़ी है।

सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भाँति विस्मित नेत्रों से शान्ता की ओर देखकर बोली, कौन शान्ति? तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी

हूँ, मैं अभागिनी हूँ, मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवी है, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे। इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अपने उज्ज्वल, स्वच्छ हृदय को इसके पास मत ला, यहाँ से भाग जा। वह मेरे सामने नरक का अग्निकुण्ड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस कुण्ड में झोंकने के लिये घसीटे लिए जाते हैं, तू यहाँ से भाग जा। यह कहते-कहते सुमन फिर मूर्छित हो गयी।

शान्ता सारी रात सुमन के पास बैठी पंखा झलती रही।

३४

शान्ता को आश्रम में आये एक मास से ऊपर हो गया, लेकिन पद्मसिंह ने अभी तक अपने घर में किसी से इसकी चर्चा नहीं की। कभी सोचते, भैया को पत्र लिखूँ, कभी सोचते, चलकर उनसे कहूँ, कभी विठ्ठलदास को भेजने का विचार करते, लेकिन कुछ निश्चय न कर सकते थे।

इधर उनके मित्रगण वेश्याओं के प्रस्ताव को बोर्ड में पेश करने के लिए जल्दी मचा रहे थे। उन्हें उसकी सफलता की पूरी आशा थी। मालूम नहीं, विलंब होने से फिर कोई बाधा उपस्थित हो जाय। पद्मसिंह उसे भी टालते आये थे। यहाँ तक कि मई का महीन आ गया और विठ्ठलदास और रमेशदत्त ने ऐसा तंग किया कि उन्हें विवश होकर बोर्ड में नियमानुसार अपने प्रस्ताव की सूचना देनी पड़ी। दिन और समय निर्दिष्ट हो गया।

आज बोर्ड में यह प्रस्ताव पेश होगा। म्युनिसिपलबोर्ड के अहाते में बड़ी भीड़-भाड़ है। वेश्याओं ने अपने दलबल सहित बोर्ड पर आक्रमण किया है। देखें, बोर्ड की क्या गति होती है!

बोर्ड की कार्यवाही आरंभ हो गयी। सभी मेम्बर उपस्थित हैं। डाक्टर श्यामाचरण ने पहाड़ पर जाना मुल्तवी कर दिया है, मुन्शी अबुलवफा को तो आज रात-भर नींद ही नहीं आयी! वह कभी भीतर जाते हैं, कभी बाहर आते हैं। आज उनके परिश्रम और उत्साह की सीमा नहीं है।

पद्मसिंह ने अपना प्रस्ताव उपस्थित किया और तुले हुए शब्दों में

उसकी पुष्टि की। यह तीन भागों में विभक्त था : (१) वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थान से हटाकर बस्ती से दूर रखा जाय, (२) उन्हें शहर के मुख्य सैर करने के स्थानों और पार्कों में आने का निषेध किया जाय, (३) वेश्याओं का नाच कराने के लिए एक भारी टैक्स लगाया जाय और ऐसे जलसे किसी हालत में खुले स्थानों में न हों।

प्रोफेसर रमेशदत्त ने उसका समर्थन किया। Propose

सैयद शफकतअली (पें० डिप्टी० कले०) ने कहा—इस तजवीज से मुझे पूरा इत्तफाक है, लेकिन बगैर मुनासिब तरमीम के मैं इसे तस्लीम नहीं कर सकता। मेरी राय है कि रिज्योल्यूशन के पहले हिस्से में यह अल्फाज बढ़ा दिये जायँ—बइस्तसनाय उनके जो नौ माह के अन्दर या तो अपना निकाह कर लें, या कोई हुनर सीख लें, जिससे वह जायज तरीके पर जिन्दगी बसर कर सकें।

कुँवर अनिरुद्ध सिंह बोले, मुझे इस तरमीम से पूरी सहानुभूति है। मुख्य प्रस्ताव इस तरमीम के बिना नश्तर का वह घाव है जिस पर मरहम नहीं। मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता।

प्रभाकरराव ने कहा, मेरी समझ में नहीं आता कि इस तरमीम का रिज्यालूशन से क्या संबध है? इसको आप अलग दूसरे प्रस्ताव के रूप मे पेश कर सकते हैं। सुधार के लिए आप जो कुछ कर सकें वह सर्वथा प्रशसनीय है, लेकिन यह काम बस्ती से हटाकर भी उतना ही आसान है जितना शहर के भीतर, बल्कि यहाँ वह सुविधा अधिक हो जायगी।

अबुलवफा ने कहा, मुझे इस तरमीम से पूरा इत्तफाक है।

अब्दुललतीफ बोले, बिला तरमीम के मैं रिज्योल्यूशन को कभी कबूल नहीं कर सकता।

दीनानाथ तिवारी ने भी तरमीम पर जोर दिया।

पद्मसिंह बोले, इस प्रस्ताव से हमारा उद्देश्य वेश्याओं को कष्ट देना नहीं वरन् उन्हें सुमार्ग पर लाना है, इसलिए मुझे इस तरमीम के स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

सैयद तेगअली ने फरमाया, तरमीम से असल तजवीज का मंशा फौत हो जाने का खौफ है। आप गोया एक मकान का सदर दरवाजा बन्द करके पीछे की तरफ दूसरा दरवाजा बना रहे हैं। यह गैरमुमकिन है कि वे औरतें जो अब तक ऐश और बेतकल्लुफी की जिन्दगी बसर करती थीं, मेहनत और मजदूरी की जिन्दगी बसर करने पर राजी हो जायँ। वह इस तरमीम से नाजायज फायदा उठायेंगी। इस तरमीम का मंजूर करना इंसानी खसलत से बेइल्मी का इजहार करना है।

हकीम शोहरतखाँ ने कहा, मुझे सैयद तेगअली के खयालात बेजा मालूम होते हैं। मुझे कामिल यकीन है कि इस तरमीम से इस तजवीज का मकसद गायब हो जायगा।

शरीफ हसन वकील बोले, इसमें कोई शक नहीं कि पण्डित पद्मसिंह एक बहुत ही नेक और बुजुर्ग हैं, लेकिन इस तरमीम को कबूल करके उन्होंने असल मकसद पर निगाह रखने के बजाय हर दिल अजीज बनने की कोशिश की है। इससे तो यही बेहतर था कि यह तजवीज पेश ही न की जाती। सैयद शफकतअली साहब ने अगर ज्यादा गौर से काम लिया होता तो वह कभी यह तरमीम पेश न करते।

सभापति सेठ बलभद्रदास ने रिज्योल्यूशन के पहले भाग पर राय ली। ९ सम्मतियाँ अनुकूल थीं, ८ प्रतिकूल। प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

फिर तरमीम पर राय ली गयी, ८ आदमी उसके अनुकूल थे, ८ प्रतिकूल, तरमीम भी पास हो गयी। सभापति ने उसके अनुकूल राय दी। डाक्टर श्यामाचरण ने किसी तरफ राय नहीं दी।

प्रोफेसर रमेशदत्त और रुस्तम भाई और प्रभाकरराव ने तरमीम के स्वीकृत हो जाने में अपनी हार समझी और पद्मसिंह की ओर इस भाव से देखा मानों उन्होंने विश्वासघात किया है।

अबुलवफा और उनके मित्रगण ऐसे प्रसन्न थे मानों उन्हीं की जीत हुई है। उनका यों पुलकित होना प्रभाकरराव और उनके मित्रों के हृदय में काँटे की तरह गड़ता था।

प्रस्ताव के दूसरे भाग पर सम्मति ली गयी। प्रभाकरराव और उनके मित्रों ने इस बार उसका विरोध किया। वह पद्मसिंह को विश्वसघातकता का दण्ड देना चाहते थे। यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया।

अब प्रस्ताव के तीसरे भाग की बारी आयी। वह अस्वीकृत हो गया।

कुछ रात गये सभा समाप्त हुई। जिन्हें हार की शंका थी वह हँसते हुए निकले, जिन्हें जीत का निश्चय था, उनके चेहरे पर उदासी छायी हुई थी।

सब लोग चले गये। अँधेरा गहरा हो गया। चौकीदार और माली भी फाटक बन्द करके चल दिये, लेकिन पद्मसिंह वहीं घास पर निरुत्साह और चिन्ता की मूर्ति बने हुए बैठे थे।

पद्मसिंह की आत्मा किसी भाँति इस तरमीम के स्वीकार करने में अपनी भूल स्वीकार न करती थी। उन्हें कदापि यह आशा न थी कि उनके मित्रगण एक गौण बात पर उनका इतना विरोध करेंगे। उन्हें प्रस्ताव के एक अंश के अस्वीकृत हो जाने का खेद न था, खेद यह था कि इसका दोष उनके सिर मढ़ा जाता था, हालाँकि उन्हें यह संपूर्णतः अपने सहकारियों की असहिष्णुता और अदूरदर्शिता प्रतीत होती थी। इस तरमीम को वह गौण ही समझते थे। इसके दुरुपयोग की जो शंकाएँ की गयी थीं उनपर पद्मसिंह को विश्वास न था। वह अविश्वास इस प्रस्ताव की सारी जिम्मेदारी उन्हीं के सिर डाल देता था। उन्हें अब यह निश्चय होता जाता था कि वर्तमान सामाजिक दशा के होते हुए इस प्रस्ताव से जो शंकाएँ की गई थीं उनके पूरे होने की कोई संभावना नहीं है। वह कभी-कभी पछताते थे कि मैंने व्यर्थ ही यह झगड़ा अपने सिर लिया। उन्हें आश्चर्य होता था कि मैं कैसे इस काँटेदार झाड़ी में उलझा और यदि इस भावी असफलता का भार इस तरमीम के सिर जा पड़ता तो वे एक बड़ी भारी ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जाते, पर यह उन्हें दुर्दशामात्र प्रतीत होती थी। अब सारी बदनामी उन्हीं पर आयेगी, विरोधी दल उनकी हँसी उड़ायेगा, उनकी उद्दण्डता पर टिप्पणियाँ करेगा और यह सारी निन्दा

उन्हें अकेले सहनी पड़ेगी। कोई उनका मित्र नहीं, कोई उन्हें तसल्ली देनेवाला नहीं। विठ्ठलदास से आशा थी कि वह उनके साथ न्याय करेंगे, उनके रूठे हुए मित्रों को मना लायेंगे, लेकिन विठ्ठलदास ने उल्टे उन्हीं को अपराधी ठहराया। वह बोले, आपने इस तरमीम को स्वीकार करके सारा गुड़ गोबर कर दिया, बरसों की मेहनत पर पानी फेर दिया। केवल कुँवर अनुरुद्धसिंह वह मनुष्य थे जो पद्मसिंह के व्यथित हृदय को ढाढ़स देते थे और उनसे सहानुभूति रखते थे।

पूरे महीने-भर पद्मसिंह कचहरी न जा सके। बस, अकेले बैठे हुए इसी घटना की आलोचना किया करते। उनके विचारों में एक विचित्र निष्पक्षता आ गयी थी। मित्रों के वैमनस्य से उन्हें जो दुःख होता था, उसपर ध्यान देकर वह यह सोचते कि जब ऐसे सुशिक्षित, विचारशील पुरुष एक जरा-सी बात पर अपने निश्चित सिद्धांतों के प्रतिकूल व्यवहार करते हैं तो इस देश का कल्याण होने की कोई आशा नहीं। माना कि मैंने तरमीम को स्वीकार करने में भूल की, लेकिन मेरी भूल ने उन्हें क्यों अपने मार्ग से विचलित कर दिया?

३४

सदन जब सुमन को देखकर लौटा तो उसकी दशा उस दरिद्र मनुष्य की-सी थी, जिसका वर्षों का धन चोरों ने हर लिया हो।

वह सोचता था, सुमन मुझसे बोली क्यों नहीं, उसने मेरी ओर ताका क्यों नहीं? क्या वह मुझे इतना नीच समझती है? नहीं, वह अपने पूर्व चरित्र पर लज्जित है और मुझे भूल जाना चाहती है। संभव है, उसे मेरे विवाह का समाचर मिल गया हो और वह मुझे अन्यायी, निर्दयी समझ रही हो। कई दिनों बाद उसे एक बार फिर सुमन से मिलने की प्रबल उत्कण्ठा हुई। दूसरे दिन वह विधवा-आश्रम के घाट की ओर चला।

उसे वहाँ पहुँचे थोड़ी ही देर हुई थी कि सुमन आती हुई दिखायी दी। उसके पीछे एक और सुन्दरी चली आती थी। उसका मुखचन्द्र घूँघट से छिपा हुआ था।

सदन को देखते ही सुमन ठिठक गयी। वह इधर कई दिनों से सदन से मिलना चाहती थी। यद्यपि पहले उसने मन में निश्चय कर लिया था कि सदन से कभी न बोलूँगी, पर शान्ता के उद्धार का उसे इसके सिवा कोई अन्य उपाय न सूझता था। उसने लजाते हुए सदन से कहा, सदनसिंह, आज बड़े भाग्य से तुम्हारे दर्शन हुए। तुमने तो इधर आना ही छोड़ दिया। कुशल से तो हो?

सदन झेंपता हुआ बोला, हाँ, सब कुशल है।

सुमन—दुबले बहुत मालूम होते हो, बीमार थे क्या?

सदन—नहीं, बहुत अच्छी तरह हूँ। मुझे मौत कहाँ?

हम बहुधा अपनी झेंप मिटाने और दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए कृत्रिम भावों की आड़ लिया करते हैं।

सुमन—चुप रहो, कैसा अशकुन मुँह से निकालते हो। मैं मरने की मनाती तो एक बात थी, जिसके कारण यह सब हो रहा है। इस रामलीला की कैकेयी मैं ही हूँ। मुझे आज तुमसे बहुत-सी बातें करनी हैं। मुझे क्षमा करना, अब तुम्हें भैया कहूँगी। अब मेरा तुमसे भाई-बहन का नाता है। मैं तुम्हारी बड़ी साली हूँ, अगर कोई कड़ी बात मुँह से निकल जाय तो बुरा मत मानना। मेरा हाल तो तुम्हें मालूम ही होगा। तुम्हारे चाचा ने मेरा उद्धार किया और अब मैं विधवाश्रम में पड़ी अपने दिनों को रोती हूँ और सदा रोऊँगी। इधर एक महीने से मेरी अभागिनी बहन भी यहीं आ गयी है, उमानाथ के घर उसका निर्वाह न हो सका। शर्माजी को परमात्मा चिरञ्जीवी करे, वह स्वयं अमोला गये और इसे ले आये। लेकिन यहाँ लाकर उन्होंने भी इसकी सुधि न ली। मैं तुमसे पूछती हूँ, भला यह कहाँ की नीति है कि एक भाई चोरी करे और दूसरा पकड़ा जाय। अब तुमसे कोई बात छिपी नहीं है, अपने खोटे नसीब से, दिनों के फेर से, पूर्वजन्म के पापों से, मुझ अभागिनी ने धर्म का मार्ग छोड़ दिया। उसका दण्ड मुझे मिलना चाहिए था और वह मिल गया। लेकिन इस बेचारी ने क्या अपराध किया था कि जिसके लिए तुम लोगों ने इसे त्याग दिया? इसका

उत्तर तुम्हें देना पड़ेगा! देखो अपने बड़ों की आड़ मत लेना, वह कायर मनुष्य की चाल है। सच्चे हृदय से बताओ, यह अन्याय था या नहीं! और तुमने कैसे ऐसा घोर अन्याय होने दिया! क्या तुम्हें एक अबला बालिका का जीवन नष्ट करते हुए तनिक भी दया न आयी?

यदि शान्ता यहाँ न होती तो कदाचित् सदन अपने मन के भावों को प्रकट करने का साहस कर जाता। वह इस अन्याय को स्वीकार कर लेता। लेकिन शान्ता के सामने वह एकाएक अपनी हार मानने के लिए तैयार न हो सका। इसके साथ ही अपनी कुल-मर्यादा की शरण लेते हुए भी उसे संकोच होता था। वह ऐसा कोई वाक्य मुँह से न निकालना चाहता था, जिससे शान्ता को दुःख हो, न कोई ऐसी बात कह सकता था, जो झूठी आशा उत्पन्न करे। उसकी उड़ती हुई दृष्टि ने, जो शान्ता पर पड़ी थी, उसे बड़े संकट में डाल दिया था। उसकी दशा उस बालक की-सी थी, जो मेहमान की लायी हुई मिठाई को ललचायी हुई आँखों से देखता है, लेकिन माता के भय से निकालकर खा नहीं सकता। बोला, बाईजी, आपने पहले ही मेरा मुँह बन्द कर दिया है, इसलिए मैं कैसे कहूँ कि जो कुछ किया मेरे बड़ों ने किया, मैं उनके सिर दोष रखकर अपना गला नहीं छुड़ाना चाहता। उस समय लोक-लज्जा से मैं भी डरता था। इतना तो आप भी मानेंगी कि संसार में रहकर संसार की चाल चलनी पड़ती है। मैं इस अन्याय को स्वीकार करता हूँ; लेकिन यह अन्याय हमने नहीं किया, वरन् उस समाज ने किया है, जिसमें हम लोग रहते हैं।

सुमन—भैया, तुम पढ़े-लिखे मनुष्य हो, मैं तुमसे बातों में नहीं जीत सकती, जो तुम्हें उचित जान पड़े वह करो। अन्याय-अन्याय ही है, चाहे कोई एक आदमी करे या सारी जाति करे। दूसरों के भय से किसी पर अन्याय नहीं करना चाहिए। शान्ता यहाँ खड़ी है, इसलिये मैं उसके भेद नहीं खोलनी चाहती, लेकिन इतना अवश्य कहूँगी कि तुम्हें दूसरी जगह धन, सम्मान, रूप, गुण सब मिल जाय, पर यह प्रेम न मिलेगा। अगर तुम्हारे जैसा इसका भी हृदय होता तो यह आज अपनी नयी ससुराल में

आनन्द से बैठी होती। लेकिन केवल तुम्हारे प्रेम ने उसे यहाँ खींचा। तुम उसे जिस तरह चाहे रखो, वह तुम्हारे ही नाम पर आजन्म बैठी रहेगी।

सदन ने देखा कि शान्ता की आँखों से जल बहकर उसके पैरों पर गिर रहा है। उसका सरल प्रेम-तृषित हृदय शोक से भर गया। अत्यन्त करुण स्वर से बोला, मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ? ईश्वर साक्षी है कि दुःख से मेरा कलेजा फटा जाता है।

सुमन—तुम पुरुष हो, परमात्मा ने तुम्हें सब शक्ति दी है।

सदन—मुझसे जो कुछ कहिए करने को तैयार हूँ।

सुमन—वचन देते हो?

सदन—मेरे चित्त की जो दशा हो रही है वह ईश्वर ही जानते होंगे, मुँह से क्या कहूँ।

सुमन—मरदों की बातों पर विश्वास नहीं आता।

यह कहकर मुस्कुरायी। सदन ने लज्जित होकर कहा, अगर अपने वश की बात होती तो अपना हृदय निकालकर आपको दिखाता। यह कहकर उसने दबी हुई आँखों से शान्ता की ओर ताका।

सुमन—अच्छा, तो आप इसी गंगा नदी के किनारे शान्ता का हाथ पकड़कर कहिए कि तुम मेरी स्त्री हो और मैं तुम्हारा पुरुष हूँ, मैं तुम्हारा पालन करूँगा।

सदन के आत्मिक बल ने जवाब दे दिया। वह बगलें झाँकने लगा, मानों अपना मुँह छिपाने के लिए कोई स्थान खोज रहा है। उसे ऐसा जान पड़ा कि गंगा मुझे छिपाने के लिए बढ़ी चली आती है। उसने डूबते हुए मनुष्य की भाँति आकाश की ओर देखा और लज्जा से आँखें नीची किये रुक-रुककर बोला, सुमन, मुझे इसके लिए सोचने का अवसर दो। सुमन ने नम्रता से कहा, हाँ सोचकर निश्चय कर लो, मैं तुम्हें धर्म-संकट में नहीं डालना चाहती। यह कहकर वह शान्ता से बोली, देख, तेरा पति तेरे सामने खड़ा है। मुझसे जो कुछ कहते बना उससे कहा, पर वह नहीं

तपसी जाता। अब वह सदा के लिए तेरे हाथ से जाता है। अगर तेरा प्रेम सत्य है और उसमें कुछ बल है तो उसे रोक ले, उससे प्रेम वरदान ले ले।

यह कहकर सुमन गंगा की ओर चली। शान्ता भी धीरे-धीरे उसी के पीछे चली गयी।। उसका प्रेम मान के नीचे दब गया। जिसके नाम पर वह यावज्जीवन दुःख झेलने का निश्चय कर चुकी थी, जिसके चरणों पर वह कल्पना में अपने को अर्पण कर चुकी थी, उसी से वह इस समय तन बैठी। उसने उसकी अवस्था को न देखा, उसकी कठिनाइयों का विचार न किया, उसकी पराधीनता पर ध्यान न दिया! इस समय वह यदि सदन के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती तो उसका अभीष्ट सिद्ध हो जाता, पर उसने विनय के स्थान पर मान करना उचित समझा।

सदन एक क्षण वहाँ खड़ा रहा और बाद को पछताता हुआ घर को चला।

सदन को ऐसी ग्लानि हो रही थी मानों उसने कोई बड़ा पाप किया हो। वह बार-बार अपने शब्दों पर विचार करता और यही निश्चय करता कि मैं बड़ा निर्दयी हूँ। प्रेमाभिलाषा ने उसे उन्मत्त कर दिया था।

वह सोचता, मुझे संसार का इतना भय क्यों है? संसार मुझे क्या दे, देता है? क्या केवल झूठी बदनामी के भय से मैं उस रत्न को त्याग दूँ, जो मालूम नहीं मेरे पूर्वजन्म की कितनी ही तपस्याओं का फल है? अगर अपने धर्म का पालन करने के लिए मेरे बन्धुगण मुझे छोड़ दें तो क्या हानि है? नहीं, लोकनिन्दा का भय मुझसे यह अधर्म नहीं करा सकता, मैं उसे मँझधार में न डूबने दूँगा। संसार जो चाहे, मुझसे यह अन्याय न होगा।

मैं मानता हूँ कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है। किन्तु उनके दुराग्रह पर भी मैं उस रमणी का तिरस्कार नहीं कर सकता, जिसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। मा-बाप मुझसे अवश्य ही विमुख हो जायँगे। संभव है, मुझे त्याग दें, मुझे मरा हुआ समझ लें, लेकिन कुछ दिनों के दुःख के बाद उन्हें धैर्य हो जायगा। वह मुझे भूल जायँगे।

काल उनके घाव को भर देगा।

हाय! मैं कैसा कठोर, कैसा पाषण हृदय हूँ! वह रमणी जो किसी रनिवास की शोभा बन सकती है मेरे सम्मुख एक दीन दयाप्रार्थी के समान खड़ी रहे और मैं जरा भी न पसीजूँ? हा मन्दबुद्धि! मेरी बातों से उसका कोमल हृदय कितना दुखी हुआ होगा। यह उसके मान करने से ही प्रकट होता है। उसने मुझे शुष्क, प्रम-विहीन, घमण्डी और धूर्त समझा होगा, मेरी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं। वास्तव में मैं इसी योग्य हूँ।

यह पश्चात्तापात्मक विचार कई दिन तक सदन के मर्मस्थल में दौड़ते रहे। अन्त में उसने निश्चय किया कि मुझे अपना झोपड़ा अलग बनाना चाहिए, अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। इसके बिना निर्वाह नहीं हो सकता। मा-बाप के घर-द्वार अब मेरे लिए बन्द हैं, खटखटाने से भी न खुलेंगे। चाचा मुझे आश्रय देंगे; लेकिन उनके यहाँ रहकर घर में बैर का बीज बोना अच्छा नहीं; माता-पिता समझेंगे कि यह मेरे लड़के को बिगाड़ रहे हैं। बस, मेरे लिए इसके सिवाय कोई और उपाय नहीं कि अपने लिए कोई राह निकालूँ।

वह विचार करता कि चलकर अपनी लगाई हुई आग को बुझा आऊँ, लेकिन चलने के समय उसकी हिम्मत जवाब दे देती। मन में प्रश्न उठता—किस बिरते पर? घर कहाँ?

सदन नित्य इसी चिन्ता में डूबा रहता कि इस सूत्र को कैसे सुलझाऊँ? उसने सारे शहर की खाक छान डाली, कभी दफ्तरों की ओर जाता, कभी बड़े-बड़े कारखानों का चक्कर लगाता और दो-चार घण्टे घूमघामकर लौट आता। इस प्रकार भटकते हुए एक मास से अधिक हो गया और कोई काम हाथ न लगा।

इसी निराशा और चिन्ता की दशा में एक दिन वह टहलता हुआ नदी के किनारे उस स्थान पर जा पहुँचा जहाँ बहुत-सी नावें लगी हुई थीं। नदी में छोटी-छोटी नावें इधर-उधर इठलाती फिरती थीं। किसी-किसी नौका में सुरीली तानें सुनायी देती थीं। कई किश्तियों पर मल्लाह लोग बोरे

उतार रहे थे। सदन एक नाव पर जा बैठा। सन्ध्या समय की शान्ति-दायिनी छटा और गंगातट के मनोरम काव्यमय दृश्य ने उसे वशीभूत कर लिया। वह सोचने लगा, यह कैसा आनन्दमय जीवन है, ईश्वर मुझे भी ऐसा ही एक झोंपड़ा दे देता, तो मैं उसी पर संतोष करता, यहीं नदी तट पर विचरता, लहरों पर चलता और आनन्द के राग गाता। शान्ता झोपड़े के द्वार पर खड़ी मेरी राह देखती। कभी-कभी हम दोनों नाव पर बैठकर गंगा की सैर करते। उसकी रसिक कल्पना ने उस सरल सुख-मय जीवन का ऐसा सुन्दर चित्र खींचा, उस आनन्दमय स्वप्न के देखने में वह ऐसा मग्न हुआ कि उसका चित्त व्याकुल हो गया। वहाँ की प्रत्येक वस्तु उस समय सुख, शान्ति और आनन्द के रंग में डूबी हुई थी। वह उठा और एक मल्लाह से बोला, क्यों चौधरी, यहाँ कोई नाव बिकाऊ भी है?

मल्लाह बैठा हुक्का पी रहा था। सदन को देखते ही उठ खड़ा हुआ और उसे कई नावें दिखायीं। सदन ने एक नाव की किश्ती पसन्द की, मोल-तोल होने लगा, कितने ही और मल्लाह एकत्र हो गए। अन्त में ३००) में नाव पक्की हो गई, यह भी तै हो गया कि जिसकी नाव है वही चलाने के लिए नौकर होगा।

सदन घर की ओर चला तो ऐसा प्रसन्न था मानों अब उसे जीवन में किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है, मानों उसने किसी बड़े भारी संग्राम में विजय पाई है। सारी रात उसकी आँखों में नींद नहीं आयी। प्रातः-काल होते ही उसे चिन्ता हुई कि रुपयों का क्या प्रबन्ध करूँ? किससे माँगूँ और कौन देगा? माँगूँ किस बहाने से? चाचा से कहूँ? नहीं, उनके पास आज कल रुपये न होंगे। दादा से माँगना तो पत्थर से तेल निका-लना है। क्या करूँ? यदि इस समय न गया तो चौधरी अपने मन में क्या कहेगा? वह छत पर इधर-उधर टहलने लगा।

अकस्मात् सदन को एक उपाय सूझ गया। वह जोर से खिलखिला-कर हँसा, जैसे कोई अपने शत्रु को भूमि पर गिराकर बेहँसी की हँसी हँसता है। वाह! मैं भी कैसा मूर्ख हूँ। मेरे सन्दूक में मोहनमाला रखी हुई है।

३००) से अधिक की होगी क्यों न उसे बेच डालूँ? जब कोई माँगेगा देखा जायगा। कौन माँगता है, और किसी ने माँगा भी तो साफ-साफ कह दूँगा कि बेचकर खा गया। जो कुछ करना होगा, कर लेगा। और अगर उस समय तक हाथ में कुछ रुपए आ गये तो निकालकर फेंक दूँगा। उसने आकर संदूक से माला निकाली और सोचने लगा कि इसे कैसे बेचूँ। बाजार में कोई गहना बेचना अपनी इज्जत बेचने से कम अपमान की बात नहीं है। इसी चिन्ता में बैठा था कि जीतन कहार कमरे में झाड़ू देने आया। सदन को मलिन देखकर बोला, भैया, आज उदास क्यों हो, आँखें चढ़ी हुई हैं, रात को सोये नहीं क्या?

सदन ने कहा, आज नींद नहीं आयी। सिर पर एक चिन्ता सवार है।

जीतन—ऐसी कौन-सी चिन्ता है? मैं भी सुनूँ।

जिस प्रकार एक निर्धन किन्तु शीलवान् मनुष्य के मुँह से बड़ी कठिनता, बड़ी विवशता और बहुत लज्जा के साथ 'नहीं' शब्द निकलता है, उसी प्रकार सदन के मुँह से निकला, मेरे पास एक मोहनमाला है, इसे कहीं बेच दो, मुझे रुपयों का काम है।

जीतन—तो यह कौन बड़ा काम है, इसके लिए क्यों चिन्ता करते हो? मुदा रुपए क्या करोगे? मालिकिन से क्यों नहीं माँग लेते हो? वह कभी नाहीं नहीं करेंगी। हाँ, मालिक से कहोगे तो न मिलेगा। इस घर में मालिक कुछ नहीं हैं, जो हैं वह मलकिन हैं।

सदन—मैं घर में किसी से नहीं माँगना चाहता।

जीतन ने माला लेकर देखी, उसे हाथों से तौला और शाम तक उसे बेच लाने की बात कहकर चला गया।

१० बजे जीतन ने ३२५) लाकर सदन के हाथों में दिये। सदन को मानो पड़ा हुआ धन मिला।

सन्ध्या समय सदन की नाव गंगा की लहरों पर इस भाँति चल रही थी जैसे आकाश में मेघ चलते हैं। लेकिन उसके चेहरे पर आनन्द-विकाश की जगह भविष्य की शङ्का झलक रही थी, जैसे कोई विद्यार्थी

परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद चिन्ता में ग्रस्त हो जाता है। उसे अनुभव होता है कि वह बाँध जो संसाररूपी नदी की बाढ़ से मुझे बचाये हुए था, टूट गया है और मैं अथाह सागर में खड़ा हूँ। सदन सोच रहा था मैंने नाव तो नदी में डाल दी, लेकिन यह पार भी लगेगी? उसे अब मालूम हो रहा था कि यह पानी गहरा है, हवा तेज है और जीवनयात्रा इतनी सरल नहीं है, जितनी मैं समझता था। लहर यदि मीठे स्वरों में गाती है तो भयंकर ध्वनि से गरजती भी है, हवा अगर लहरों को थपकियाँ देती है, तो कभी-कभी उन्हें उछाल भी देती है।

३६

म्युनिसिपैलिटी में प्रस्ताव को पास हुए लगभग तीन मास बीत गये; पर उसकी तरमीम के विषय में तेगअली ने जो शंकाएँ प्रकट की थीं वह निर्मूल प्रतीत हुईं। न दालमंडी के कोठों पर दूकानें ही सजीं और न वेश्याओं ने निकाह-बंधन से ही कोई विशेष प्रेम प्रकट किया। हाँ, कई कोठे खाली हो गये। उन वेश्याओं ने भावी निर्वासन के भय से दूसरी जगह रहने का प्रबन्ध कर लिया।

पद्मसिंह ने इस प्रस्ताव को वेश्याओं के प्रति घृणा से प्रेरित होकर हाथ में लिया था, पर अब इस विषय पर विचार करते-करते उनकी घृणा बहुत कुछ दया और क्षमा का रूप धारण कर चुकी थी। इन्हीं भावों ने उन्हें तरमीम से सहमत होने पर बाध्य किया था। सोचते, यह बेचारी अबलाएँ अपनी इन्द्रियों के सुखभोग में अपना सर्वस्व नाश कर रही हैं। विलास-प्रेम की लालसा ने उनकी आँखें बन्द कर रखी हैं। इस अवस्था में उनके साथ दया और प्रेम की आवश्यकता है।

हमारे मन के विचार कर्म के पथदर्शक होते हैं। पद्मसिंह ने झिझक और संकोच को त्यागकर कर्म-क्षेत्र में पैर रखा। वही पद्मसिंह जो सुमन के सामने से भाग खड़े हुए थे अब दिन दोपहर दालमंडी के कोठों पर बैठे दिखायी देने लगे। उन्हें अब लोकनिन्दा का भय न था, मुझे लोग क्या कहेंगे इसकी चिन्ता न थी। उनकी आत्मा बलवान हो गयी थी,

हृदय में सच्ची सेवा का भाव जाग्रत हो गया था। कच्चा फल पत्थर मारने से भी नहीं गिरता, किन्तु पककर वह आप ही आप धरती की की ओर आकर्षित हो जाता है। पद्मसिंह के अन्तःकरण में सेवा का—प्रेम का भाव परिपक्व हो गया था।

विट्ठलदास इस विषय में उनसे पृथक् हो गये। उन्हें जन्म की वेश्याओं के सुधार पर विश्वास न था। सैयद शफकतअली भी जो इसके जन्मदाता थे, उनसे कन्नी काट गये और कुँवर साहब को तो अपने साहित्य, संगीत और सत्संग से ही अवकाश न मिलता था, केवल साधु गजाधर ने इस कार्य में पद्मसिंह का हाथ बँटाया। उस सदुद्योगी पुरुष में सेवा का भाव पूर्णरूप से उदय हो चुका था।

३७

एक महीना बीत गया। सदन ने अपने इस नये धंधे की चर्चा घर में किसी से न की। वह नित्य सबेरे उठकर गंगास्नान के बहाने चला जाता। वहाँ से दस बजे घर आता। भोजन करके फिर चल देता और तब का गया-गया घड़ी रात गये घर लौटता।

इसी समय म्युनिसिपैलिटी ने वेश्याओं के लिए शहर से हटकर मकान बनवाने का निश्चय किया। लाला भगतराम को इसका ठीका मिला। नदी के इस पार ऐसी जमीन न मिल सकी जहाँ वह पजावे लगाते और चूने के भट्ठे बनाते। इसीलिए उन्होंने नदी पार जमीन ली थी और वहीं सब सामान तैयार कराते थे। उस पार से ईंटें, चूना आदि लाने के लिए उन्हें एक नाव की जरूरत हुई। नाव तै करने के लिए मल्लाहों के पास आये। सदन से भेंट हो गयी। सदन ने अपनी नाव दिखायी, भगतराम ने उसे पसन्द किया। झींगुर से मजूरी तै हुई, दो खेवे रोज लाने की बात ठहरी। भगतराम ने बयाना दिया और चले गये।

रुपए की चाट बुरी होती है। सदन अब वह उड़ाऊ, लुटाऊ युवक नहीं रहा। उसके सिर अब चिन्ताओं का बोझ है, कर्त्तव्य का ऋण है। वह इससे मुक्त होना चाहता है। उसकी निगाह एक-एक पैसे पर रहती

है। उसे अब रुपये कमाने और घर बनवाने की धुन है। उस दिन वह घड़ी रात रहे उठकर नदी के किनारे चला आया और झींगुर को जगाकर नाव खुला दी। दिन निकलते-निकलते उस पार जा पहुँचा। लौटती वार उसने स्वयं एक डाँड़ ले लिया और हँसते हुए दो-चार हाथ चलाये, लेकिन इतने ही में नाव की चाल बढ़ते देखकर उसने जोर-जोर से डाँड़ चलाने शुरू किये। नाव की गति दूनी हो गयी। झींगुर पहले-पहल तो मुस्कराता था, लेकिन अब चकित हो गया। आज से वह सदन का दबाव कुछ अधिक मानने लगा। उसे मालूम हो गया कि यह महाशय निरे मिट्टी के लोंदे नहीं हैं। काम पड़ने पर यह अकेले नाव को पार ले जा सकते हैं, और अब मेरा टर्राना उचित नहीं।

इसी प्रकार दो मास तक लगातार उसने काम किया और इसमें उसे अच्छा लाभ हुआ। उसने दो मल्लाह और रख लिये थे।

सदन अब मल्लाहों का नेता था। उसका झोपड़ा तैयार हो गया था। भीतर एक तख्त था, दो पलँग, लैम्प, एक कमरा बैठने का था, एक खाने-पकाने का, एक सोने का। द्वार पर ईंटों का चबूतरा था। उसके इर्द-गिर्द गमले रखे हुए थे। दो गमलों मे लताएँ लगी हुई थीं, जो झोपड़े के ऊपर चढ़ती जाती थीं। यह चबूतरा अब मल्लाहों का अड्डा था। वह बहुधा वहीं बैठे तमाखू पीते। सदन ने उनके साथ एक बड़ा उपकार किया था, अफसरों से लिखा-पढ़ी करके उन्हें आये दिन की बेगार से मुक्त करा दिया था। इस साहस के काम ने उसका सिक्का जमा दिया था। उसके पास अब कुछ रुपए भी जमा हो गये थे और वह मल्लाहों को बिना सूद के रुपए उधार देता था। उसे अब एक पैरगाड़ी की फिक्र थी, शौकीन आदमियों के सैर के लिए वह एक सुन्दर बजरा भी लेना चाहता था, और हारमोनियम के लिए तो उसने पत्र डाल ही दिया। यह सब उस देवी के आगमन की तैयारियाँ थीं जो एक क्षण के लिए भी उसके ध्यान से न उतरती थी।

सदन की अवस्था अब ऐसी थी कि वह गृहस्थी का बोझ उठा सके,

लेकिन अपने चाचा की सम्मति के बिना यह शान्ता को लाने का साहस न कर सकता था। वह घर पर पद्मसिंह के साथ भोजन करने बैठता तो निश्चय कर लेता कि आज इस विषय को छेड़कर तै कर लूँगा, पर उसका इरादा कभी पूरा न होता, उसके मुँह से बात न निकलती।

यद्यपि उसने पद्मसिंह से इस व्यवसाय की चर्चा न की थी, पर उन्हें लाला भगतराम से यह सब मालूम हो गया था। वह सदन की उद्योग-शीलता पर बहुत प्रसन्न थे। एक-दो नावें और ठीक कर ली जायँ और कारोबार बढ़ा दिया जाय। लेकिन जब सदन स्वयं कुछ नहीं कहता था तो वह भी इस विषय मे चुप रहना ही उचित समझते थे। वह पहले से ही उसकी खातिर करते थे, अब कुछ आदर भी करने लगे और सुभद्रा तो उसे लड़के के समान मानने लगी।

एक दिन रात के समय सदन अपने झोपड़े में बैठा हुआ नदी की तरफ देख रहा था। आज न जाने क्यों नाव के आने मे देर हो रही थी। सामने लैम्प जल रहा था। सदन के हाथ में एक समाचारपत्र था, पर उसका ध्यान पढ़ने में न लगता था। नाव के न आने से उसे किसी अनिष्ट की चिंता हो रही थी। उसने पत्र रख दिया और बाहर निकलकर तट पर आया। रेत पर चाँदनी की सुनहरी चादर बिछी हुई थी और चाँद की किरणें नदी के हिलते हुए जल पर ऐसी मालूम होती थीं जैसे किसी झरने से निर्मल जल की धारा क्रमशः चौड़ी होती हुई निकलती है। झोपड़े के सामने चबूतरे पर कई मल्लाह बैठे हुए बातें कर रहे थे कि अकस्मात् सदन ने दो स्त्रियों को शहर की ओर से आते देखा। उनमें से एक ने मल्लाहों से पूछा, हमे उस पार जाना है, नाव ले चलोगे?

सदन ने शब्द पहचाने। यह सुमनबाई थी। उसके हृदय में एक गुदगुदी सी आयी; आँखों में एक नशा-सा छा गया। लपककर चबूतरे के पास आया और सुमन से बोला, बाईजी, तुम कहाँ?

सुमन ने ध्यान से सदन को देखा, मानों उसे पहचानती ही नहीं। साथ वाली स्त्री ने घूँघट निकाल लिया और लालटेन के प्रकाश से कई पग

हटकर अँधेरे में चली गई। सुमन ने आश्चर्य से कहा, कौन? सदन!

मल्लाहों ने उठकर घेर लिया, लेकिन सदन ने कहा, तुम लोग इस समय यहाँ से चले जाओ। ये हमारे घर की स्त्रियाँ हैं, आज यहीं रहेंगी। इसके बाद वह सुमन से बोला, बाईजी कुशल-समाचार कहिए। क्या माजरा है?

सुमन—सब कुशल है, भाग्य में जो कुछ लिखा है वही भोग रही हूँ। आज का पत्र तुमने अभी न पढ़ा होगा, प्रभाकरराव ने न जाने क्या छाप दिया कि आश्रम में हलचल मच गयी। हम दोनों बहनें वहाँ एक दिन भी और रह जातीं तो आश्रम बिलकुल खाली हो जाता। वहाँ से निकल आने में कुशल थी। अब इतनी कृपा करो कि हमें उस पार ले जाने के लिए एक नाव ठीक कर दो। वहाँ से हम एक्का करके मुगलसराय चली जायँगी। अमोला के लिए कोई-न-कोई गाड़ी मिल ही जायगी। यहाँ से रात को कोई गाड़ी नहीं जाती।

सदन—अब तो तुम अपने घर ही पहुँच गयीं, अमोला क्यों जाओगी। तुम लोगों को कष्ट तो बहुत हुआ, पर इस समय तुम्हारे आने से मुझे जितना आनन्द हुआ, यह वर्णन नहीं कर सकता। मैं स्वयं कई दिन से तुम्हारे पास आने का इरादा कर रहा था; लेकिन काम से छुट्टी ही नहीं मिलती। मैं तीन-चार महीने से मल्लाह का काम करने लगा हूँ। यह तुम्हारा झोपड़ा है, अन्दर चलो।

सुमन झोपड़े में चली गयी, लेकिन शान्ता वहीं अँधेरे में चुपचाप सिर झुकाये रो रही थी।

सुमन झोपड़े में चली गई तो सदन धीरे-धीरे शान्ता के सामने आया और काँपते हुए स्वर से बोला—शान्ता!

यह कहते-कहते उसका गला रुक गया।

शान्ता प्रेम से गद्‌गद हो गयी। उसका प्रेम उस विरक्त दशा को पहुँच गया था, जब वह संकुचित स्वार्थ से मुक्त हो जाता है।

उसने मन में कहा, जीवन का क्या भरोसा है! मालूम नहीं जीती

रहूँ या न रहूँ, इनके दर्शन फिर हों या न हों, एक बार इनके चरणों पर सिर रखकर रोने की अभिलाषा क्यों रह जाय ?

यह सोचकर शान्ता रोती हुई सदन के पैरों पर गिर पड़ी, किन्तु मुरझाया हुआ फूल हवा का झोका लगते ही बिखर गया। सदन झुका कि उसे उठाकर छाती से लगा ले, चिमटा ले, लेकिन शान्ता की दशा देखकर उसका हृदय विकल हो गया। जब उसने उसे पहले-पहल नदी के किनारे देखा, तब वह सौन्दर्य की एक नयी कोमल कली थी, पर आज वह एक सूखी हुई पीली पत्ती थी जो बसन्त-ऋतु में गिर पड़ी है।

सदन का हृदय नदी में चमकती हुई चन्द्र किरणों के सदृश थरथराने लगा। उसने काँपते हुए हाथों से उस संज्ञाशून्य शरीर को उठा लिया।

शान्ता को छाती से लगाये हुए सदन झोपड़े में गया और उसे पलंग पर लिटाकर, शोकातुर स्वर से बोला, सुमन, देखो यह कैसे हुई जाती है। मैं डाक्टर के पास दौड़ा जाता हूँ।

सुमन ने समीप आकर बहन को देखा। माथे पर पसीने की बूँदे आ गयी थीं, आँखें पथराई हुईं, नाड़ी का कहीं पता नहीं, मुख वर्णहीन हो गया था। उसने तुरन्त पंखा उठा लिया, झलने लगी और बोली—लाओ थोड़ा ठंढा पानी।

सदन ने ठंढे पानी का कटोरा सुमन को दिया और स्वयं पंखा झलने लगा। सुमन ने शान्ता के मुँह पर पानी के कई छींटे दिये। इसपर भी जब शान्ता ने आँखें न खोलीं, तब सदन बोला, जाकर डाक्टर को बुला लाऊँ न ?

सुमन—नहीं, घबराओ मत। ठंढक पहुँचते ही होश आ जायगा। डाक्टर के पास इसकी दवा नहीं है।

इतने में शान्ता ने करवट बदली और पानी माँगा। सुमन ने पानी का गिलास उसके मुँह से लगा दिया। उसने दो-तीन घूँट पीया और तब फिर चारपाई पर लेट गयी।

सुमन ने सदन से कहा, अब सो रही है, सोने दो। एक नींद सो लेगी

तो उसका जी सँभल जायगा। रात अधिक बीत गयी है, अब तुम भी घर जाओ; शर्माजी बैठे घबराते होंगे।

सदन—आज न जाऊँगा।

सुमन—नहीं-नहीं, वे लोग घबरायेंगे। शान्ता अब अच्छी है। देखो, कैसे सुख से सोती है। इतने दिनों में आज ही मैंने उसे यों सोते देखा है।

सदन ने नहीं माना, वहीं बरामदे में आकर चौकी पर लेट रहा और सोचने लगा।

३८

बाबू विट्ठलदास न्यायप्रिय सरल मनुष्य थे। जिन्हें जिधर न्याय खींच ले जाता उधर चले जाते थे। इसमें उन्हें लेशमात्र भी संकोच न होता था। जब उन्होंने पद्मसिंह को न्याय-पथ से हटते देखा तो उनका साथ छोड़ दिया और कई महीनों तक उनके घर न आये, लेकिन प्रभाकरराव ने जब आश्रम पर आक्षेप करना शुरू किया और सुमनबाई के संबंध में कुछ गुप्त रहस्यों का उल्लेख किया तो विट्ठलदास से भी बिगाड़ हो गया। अब सारे शहर में उनका कोई मित्र न था। अब उन्हें अनुभव हो रहा था कि ऐसी संस्था का अध्यक्ष होकर, जिसका अस्तित्व दूसरे की सहायता और सहानुभूति पर निर्भर है, मेरे लिए किसी पक्ष को ग्रहण करना अत्यन्त अनुचित है। उन्हें अनुभव हो रहा था कि आश्रम की कुशल इसी में है कि मैं इससे पृथक रहते हुए भी सबसे मिला रहूँ। यही मार्ग मेरे लिए सबसे उत्तम है। सन्ध्या का समय था, वे बैठे हुए सोच रहे थे कि प्रभाकरराव के आक्षेपों का क्या उत्तर दूँ। बातें कुछ सच्ची हैं, सुमन वास्तव में वेश्या थी, मैं यह जानते हुए उसे आश्रम में लाया, मैंने प्रबन्धकारिणी सभा में इसकी कोई चर्चा नहीं की, इसका प्रस्ताव नहीं किया। मैंने वास्तव में आश्रम को अपनी निज की संस्था समझा। मेरा उद्देश्य चाहे कितना ही प्रशंसनीय हो, पर उसे गुप्त रखना सर्वथा अनुचित था।

विट्ठलदास अभी कुछ निश्चय नहीं करने पाये कि आश्रम की अध्यापिका ने आकर कहा, महाशय, आनन्दी, राजकुमारी और गौरी घर जाने

को तैयार बैठी हैं। मैंने कितना ही समझाया पर वे मानती ही नहीं। विट्ठलदास ने झुँझलाकर कहा, कह दो चली जायँ, मुझे इसका डर नहीं है। उनके लिए मैं सुमन और शान्ता को नहीं निकाल सकता।

अध्यापिका चली गयी। इसी समय डाकिया चिट्ठियाँ लेकर आया। विट्ठलदास के नाम पाँच चिट्ठियाँ थीं।

एक में लिखा था कि मैं अपनी कन्या (विद्यावती) को आश्रम में रखना उचित नहीं समझता। मैं उसे लेने आऊँगा। दूसरे महाशय ने धमकाया था कि अगर वेश्याओं को आश्रम से न निकाला जायगा तो वह चन्दा देना बन्द कर देंगे। तीसरे पत्र का भी यही आशय था। शेष दोनों पत्रों को विट्ठलदास ने नहीं खोला। इन धमकियों ने उन्हें भयभीत नहीं किया, बल्कि हठ पर दृढ़ कर दिया।

सुमन देख रही थी कि मेरे ही कारण यह झगड़ा मची हुई है। उसे दुःख हो रहा था कि मैं यहाँ क्यों आयी? उसने कितनी श्रद्धा से इन विधवाओं की सेवा की थी, पर उसका यह फल निकला? वह जानती थी, विट्ठलदास कभी उसे वहाँ से न जाने देंगे, इसलिए उसने निश्चय किया कि क्यों न मैं चुपके से चली जाऊँ? तीन स्त्रियाँ चली गयी थीं, दो तीन महिलाएँ तैयारियाँ कर रही थीं और कई अन्य देवियों ने अपने-अपने घरों पर पत्र भेजे थे। केवल वही चुपचाप बैठी थीं, जिनका कहीं ठिकाना नहीं था। पर वह भी सुमन से मुँह चुराती फिरती थीं। सुमन यह अपमान न सह सकी। उसने शान्ता से सलाह की। शान्ता बड़ी दुविधा में पड़ी। पद्मसिंह की आज्ञा के बिना वह आश्रम से निकलना अनुचित समझती थी। लेकिन जब सुमन ने निश्चित रूप से कह दिया कि तुम रहती हो तो रहो, पर मैं किसी भाँति यहाँ न रहूँगी, तो शान्ता को वहाँ रहना असम्भव-सा प्रतीत होने लगा। जंगल में भटकते हुए उस मनुष्य की भाँति जो किसी दूसरे को देखकर उसके साथ केवल इसलिए हो लेता है कि एक से दो हो जायँगे, शान्ता अपनी बहन के साथ चलने को तैयार हो गयी।

दोनों बहनों में बहुत देर तक बातें हुईं। फिर दोनों मिलकर रोयीं।

ज्योंही आज आठ बजे और विठ्ठलदास भोजन करने के लिए अपने घर गए, दोनों बहनें सबकी आँख बचाकर चल खड़ी हुईं।

रात-भर किसी को खबर न हुई। सबेरे चौकीदार ने आकर विठ्ठलदास से यह समाचार कहा। वह घबराए और लपके हुए सुमन के कमरे में गए। सब चीजें पड़ी हुई थीं, केवल दोनों बहनों का पता न था। बेचारे बड़ी चिंता में पड़े। एकाएक उन्हें सुमन की चारपाई पर एक पत्र पड़ा हुआ दिखायी दिया। लपककर उठा लिया और पढ़ने लगे। यह पत्र सुमन ने चलते समय लिखकर रख दिया था। इसे पढ़कर विठ्ठलदास को कुछ धैर्य हुआ। लेकिन इसके साथ ही उन्हें यह दुःख हुआ कि सुमन के कारण मुझे नीचा देखना पड़ा। उन्होंने निश्चय किया था कि मैं अपने धमकी देनेवालों को नीचा दिखाऊँगा, पर यह अवसर उनके हाथ से निकल गया। अब लोग यही समझेंगे कि मैं डर गया।

आखिर वह कमरे से निकले। दरवाजे बन्द कराए और सीधे पद्मसिंह के घर पहुँचे।

शर्माजी ने यह समाचार सुना तो सन्नाटे में आ गये। बोले, अब क्या होगा?

विठ्ठल—वे अमोला पहुँच गयी होंगी।

शर्मा—हाँ, संभव है।

विठ्ठल—एक तार भेजकर पूछ क्यों न लीजिए।

शर्मा—कौन मुँह लेकर पूछूँ! जब मुझसे इतना भी न हो सका कि शान्ता की रक्षा करता, तो अब उसके विषय में कुछ पूछताछ करना मेरे लिए लज्जाजनक है। मुझे आपके ऊपर विश्वास था। अगर जानता कि आप ऐसी लापरवाही करेंगे तो उसे मैंने अपने ही घर में रखा होता।

विठ्ठल—आप सारी जिम्मेदारी मुझी पर डालना चाहते हैं!

पद्म—और किस पर डालूँ! आश्रम के संरक्षक आप ही हैं या कोई और!

विठ्ठल—शान्ता को वहाँ रहते तीन महीने से अधिक हो गये, आप

कभी भूलकर भी आश्रम की ओर गये ? जब आपने उसकी कभी बात तक न पूछी तो वह किस आधार पर वहाँ पड़ी रहती ? मैं अपने दायित्व को स्वीकार करता हूँ; पर आप भी दोष से नहीं बच सकते।

पद्मसिंह आजकल विट्ठलदास से चिढ़े हुए थे। उन्होंने उन्हीं के अनुरोध से वेश्या-सुधार के काम में हाथ डाला, पर अन्त में जब काम करने का अवसर पड़ा तो वह साफ निकल गये। पद्मसिंह उन्हें खूब आड़े हाथों लेना चाहते थे, पर यह प्रत्युत्तर पाकर उन्हें चुप हो जाना पड़ा। बोले— हाँ, इतना दोष मेरा अवश्य है।

पद्मसिंह ने अपना दोष स्वीकार करके बाजी पलट दी थी। हम आप झुककर दूसरे को झुका सकते हैं, पर तनकर किसी को झुकाना कठिन है।

विट्ठल—शायद सदनसिंह को कुछ मालूम हो। जरा उन्हें बुलाइए।

शर्मा—वह तो रात से ही गायब है। उसने गंगा के किनारे एक झोपड़ा बनवा लिया है, कई मल्लाह लिये हैं और एक नाव चलाता है। शायद रात वहीं रह गया।

विट्ठल—संभव है, दोनों बहनें वहीं पहुँच गयी हों। कहिए तो जाऊँ।

शर्मा—अजी नहीं, आप किस भ्रम म हैं। वह इतना लिबरल नहीं है। उनके साये से भागता है।

अकस्मात् सदन ने उनके कमरे में प्रवेश किया। पद्मसिंह ने पूछा, तुम रात कहाँ रह गये ? सारी रात तुम्हारी राह देखी।

सदनसिंह न धरती की आर ताकते हुए कहा, मैं स्वयं लज्जित हूँ। ऐसा काम पड़ गया कि मुझे विवश होकर रुकना पड़ा। इतना समय भी न मिला कि आकर कह जाता। मैंने आपसे शर्म के मारे कभी चर्चा भी नहीं की, लेकिन इधर कई महीनों से मैंने एक नाव चलाना शुरू किया है। वहीं नदी के किनारे एक झोपड़ा बनवा लिया है। मेरा विचार है कि इस काम को जमकर करूँ। इसलिए आपसे उस झोंपड़े में रहने की आज्ञा चाहता हूँ।

शर्मा—भाई, यह शर्त तुम बुरी लगाते हो। शहर में रहकर तुम

मुझसे अलग रहो, यह मुझे पसंद नहीं। इसमें तुम्हें कुछ हानि भी हो, लेकिन मैं न मानूँगा।

सदन—नहीं चाचा, आप मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर लीजिए; मैं बहुत मजबूर होकर आपसे यह कह रहा हूँ।

शर्मा—ऐसी क्या बात है जो तुम्हें मजबूर करती है। तुम्हें जो संकोच हो वह साफ साफ क्यों नहीं कहते?

सदन—मेरे इस घर में रहने से आपकी बदनामी होगी। मैंने अब अपने उस कर्तव्य का पालन करने का संकल्प कर लिया है जिसे मैं कुछ दिनों तक अपने अज्ञान और कुछ समय तक अपनी कायरता और निन्दा के भय से टालता आया था। मैं आपका लड़का हूँ। जब मुझे कोई कष्ट होगा, आपका आश्रय लूँगा, कोई जरूरत पड़ेगी तो आपको सुनाऊँगा, लेकिन रहूँगा अलग और मुझे विश्वास है कि आप मेरे प्रस्ताव को पसन्द करेंगे।

विट्ठलदास बात की तह तक पहुँच गये। पूछा, कल सुमन और शान्ता से तुम्हारी मुलाकात नहीं हुई?

सदन के चेहरे पर लज्जा की लालिमा छा गयी, जैसे किसी रमणी के मुँह पर से घूँघट हट जाय। दबी आवाज़ से बोला, जी हाँ।

पदमसिंह बड़े धर्म-संकट में पड़े। न 'हाँ' कह सकते थे, न 'नहीं' कहते बनता था। कई मिनट तक इसी उलझन में पड़े रहे। अन्त में वह बोले, सदन, यह समस्या इतनी कठिन है कि मैं अपने भरोसे पर कुछ नहीं कर सकता। भैया की राय लिये बिना 'हाँ' या 'नहीं' कैसे कहूँ! तुम मेरे सिद्धान्त को जानते हो। मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ और प्रसन्न हूँ कि ईश्वर ने तुम्हें सद्बुद्धि दी। लेकिन मैं भाई साहब की इच्छा को सर्वोपरि समझता हूँ। यह हो सकता है कि दोनों बहनों के अलग रहने का प्रबन्ध कर दिया जाय जिसमें उन्हें कोई कष्ट न हो। बस यहीं तक। इसके आगे मेरी कुछ सामर्थ्य नहीं है। भाई साहब की जो इच्छा हो वही करो।

सदन—क्या आपको मालूम नहीं कि वह क्या उत्तर देंगे?

पद्म—हाँ, यह भी मालूम है।

सदन—तो उनसे पूछना व्यर्थ है। माता-पिता की आज्ञा से मैं अपनी जान दे सकता हूँ, जो उन्हीं की दी हुई है, लेकिन किसी निरपराध की गर्दन पर तलवार नहीं चला सकता।

पद्म—तुम्हें इसमें क्या आपत्ति है कि दोनों बहनें एक अलग मकान में ठहरा दी जायँ?

सदन ने गर्म होकर कहा, ऐसा तो तब करूँगा, जब मुझे छिपाना हो। मैं कोई पाप करने नहीं जा रहा हूँ, जो उसे छिपाऊँ। यह मेरे जीवन का परम कर्तव्य है, उसे गुप्त रखने की आवश्यकता नहीं है। अब तक विवाह के जो संस्कार नहीं पूरे हुए हैं वह कल गंगा के किनारे पूरे किये जायँगे। यदि आप वहाँ आने की कृपा करेंगे तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा, नहीं तो ईश्वर के दरबार में गवाहों के बिना भी प्रतिज्ञा हो जाती है।

यह कहता हुआ सदन उठा और घर में चला गया। सुभद्रा ने कहा, वाह, खूब गायब होते हो, सारी रात जी लगा रहा। कहाँ रह गये थे?

सदन ने रात का सारा वृत्तांत चाची से कहा। चाची से बातचीत करने में उसे वह झिझक न होती थी जो शर्माजी से होती थी। सुभद्रा ने उसके साहस की बड़ी प्रशंसा की। बोली, मा-बाप के डर से कोई अपनी ब्याहता को थोड़े ही छोड़ देता है। दुनिया हँसेगी तो हँसा करे। उसके डर से अपने घर के प्राणी की जान ले लेंगे? तुम्हारी अम्मा से डरती हूँ, नहीं तो उसे यहाँ रखती।

३६

सदनसिंह का विवाह-संस्कार हो गया। झोपड़ा खूब सजाया गया था, वही मंडप का काम दे रहा था लेकिन कोई भीड़-भाड़ न थी।

पद्मसिंह उसी दिन घर चले गये और मदनसिंह से सब समाचार कहा। वह यह सुनते ही आग हो गये, बोले, मैं उस छोकरे का सिर काट लूँगा, वह अपने को समझता क्या है? भामा ने कहा, मैं आज ही जाती

हूँ, उसे समझाकर अपने साथ लिवा लाऊँगी। अभी नादान लड़का है। उस कुटनी सुमन की बातों में आ गया है। मेरा कहना वह कभी न टालेगा।

लेकिन मदनसिंह ने भामा को डाँटा और धमकाकर कहा, अगर तुमने उधर जाने का नाम लिया तो मैं अपना और तुम्हारा गला एक साथ ही घोंट दूँगा। ऐसा दूध पीता नादान बच्चा नहीं है। यह सब उसकी जिद है। बच्चू को भीख मँगाकर न छोड़ूँ तो कहना। सोचते होंगे, दादा मर जायँगे तो आनन्द करूँगा। मुँह धो रखे, यह कोई मौरूसी जायदाद नहीं है। यह मेरी अपनी कमाई है। सब-की-सब कृष्णार्पण कर दूँगा। एक फूटी कौड़ी तो मिलेगी ही नहीं।

गाँव के चारों ओर बतकहवा होने लगा। लाला बैजनाथ को निश्चय हो गया कि संसार में धर्म उठ गया। जब लोग ऐसे-ऐसे नीच कर्म करने लगे तो धर्म कहाँ रहा ! न हुई नवाबी, नहीं तो आज बच्चू की धज्जियाँ उड़ जातीं। अब देखें कौन मुँह लेकर गाँव में आते हैं !

पद्मसिंह रात को बहुत देर तक भाई के साथ बैठे रहे, लेकिन ज्योंही वह सदन का कुछ जिक्र छेड़ते, मदनसिंह उनकी ओर ऐसी आग्नेय दृष्टि से देखते कि उन्हें बोलने की हिम्मत न पड़ती।

प्रातःकाल जब वह घर से चलने लगे तो भामा रोती हुई आयी और बोली, भैया, इनका हठ तो देख रहे हो, लड़के की जान लेने पर उतारू हैं, लेकिन तुम जरा सोच-समझकर काम करना। भूल-चूक तो बड़े-बड़ों से हो जाती है, वह बेचारा तो अभी नादान लड़का है। तुम उसकी ओर से मन न खोटा करना। उसे किसी की टेढ़ी निगाह भी सहन नहीं है। ऐसा न हो, कहीं देश-विदेश की राह ले तो मैं कहीं की न रहूँ। उसकी सुध लेते रहना। खाने-पीने की तकलीफ न होने पाये। यहाँ रहता था तो एक भैंस का दूध पी जाता था। उसे दाल में घी अच्छा नहीं लगता, लेकिन मैं उससे छिपाकर लोंदे-के-लोंदे दाल में डाल देती थी। अब इतनी सेवा-जतन कौन करेगा ? न जाने विचारा कैसे होगा ? यहाँ घर पर कोई खानेवाला नहीं, वहाँ वह इन्हीं चीजों के लिए तरसता होगा। क्यों

भैया, क्या अपने हाथ से नाव चलाता है ? ✓

पद्म—नहीं, दो मल्लाह रख लिए हैं।

भामा—तब भी दिन-भर दौड़-धूप तो करनी ही पड़ती होगी। मजूर बिना देखे-भाले थोड़े ही काम करते हैं। मेरा तो यहाँ कुछ बस नहीं है, उसे तुम्हें सौंपती हूँ। उसे अनाथ समझकर खोज-खबर लेते रहना। मेरा रोआँ-रोआँ तुम्हें आशीर्वाद देगा। अबकी कातिक-स्नान में मैं उसे जरूर से देखने जाऊँगी। कह देना, तुम्हारी अम्माँ तुम्हें बहुत याद करती थीं, बहुत रोती थीं। यह सुनकर उसे ढाढ़स हो जायगा। उसका जी बड़ा कच्चा है। मुझे याद करके रोज रोता होगा। यह थोड़े से रुपये हैं, लेते जाओ, उसके पास भिजवा देना।

पद्म—इसकी क्या जरूरत है ! मैं तो वहाँ हूँ ही, मेरे देखते उसे किसी बात की तकलीफ न होने पायेगा।

भामा—नहीं भैया, लेते जाओ, क्या हुआ। इस हाँड़ी में थोड़ा-सा घी है, यह भी भिजवा देना। बाजारू घी घर के घी को कहाँ पाता है, न वह सुगन्ध, न वह स्वाद। उसे अमावट की चटनी बहुत अच्छी लगती है, मैं थोड़ी-सी अमावट भी रखे देती हूँ। मीठे-मीठे आम चुनकर रस निकाला था। समझाकर कह देना, बेटा, कोई चिन्ता मत करो। जब तक तुम्हारी मा जीती है, तुमको कोई कष्ट न होने पायेगा। मेरे तो वही एक अंधे की लकड़ी है। अच्छा है तो, बुरा है तो, अपना ही है। संसार की लाज से आँखों से चाहे दूर कर दूँ, लेकिन मन से थोड़े ही दूर कर सकती हूँ।

४०

जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुन्दर रंगों से चित्रों में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आने से झोंपड़े में जान आ गयी है। अन्धी आँखों में पुतलियाँ पड़ गयी हैं।

मुरझायी हुई कली शान्ता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी

हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सतायी हुई रमणी अब निखर गई है, प्रेम में मग्न है।

शान्ता गाती है, सुमन खाना पकाती है। शान्ता अपने केशों को सँवारती है, सुमन कपड़े सीती है। शान्ता भूखे मनुष्य के समान भोजन के थाल पर टूट पड़ती है, सुमन किसी रोगी के सदृश सोचती है कि मैं अच्छी हूँगी या नहीं।

सदन के स्वभाव में भी अब कायापलट हो गया है। वह प्रेम का आनन्द भोग करने में तन्मय हो रहा है। वह अब दिन चढ़े उठता है, घण्टों नहाता है, बाल सँवारता है, कपड़े बदलता है, सुगन्ध मलता है। नौ बजे से पहले वह अपनी बैठक मे नहीं आता और आता भी है तो जमकर बैठता नहीं, उसका मन कहीं और रहता है। एक-एक पल मे भीतर जाता है और अगर बाहर किसी से बात करने में देर हो जाती है, तो उकताने लगता है। शान्ता ने उसपर वशीकरण मन्त्र डाल दिया है।

सुमन घर का सारा काम भी करती है और बाहर का भी। वह घड़ी रात रहे उठती है और स्नान-पूजा के बाद सदन के लिए जलपान बनाती है। फिर नदी के किनारे आकर नाव खुलवाती है। नौ बजे भोजन बनाने बैठ जाती है। ग्यारह बजे तक यहाँ से छुट्टी पाकर वह कोई-न-कोई काम करने लगती है। नौ बजे रात को जब सब लोग सोने चले जाते हैं, तो वह पढ़ने बैठ जाती है, तुलसी की विनयपत्रिका और रामायण से उसे बहुत प्रेम है। कभी भक्तमाल पढ़ती है, कभी विवेकानन्द के व्याख्यान और कभी रामतीर्थ के लेख। वह विदुषी स्त्रियों के जीवन-चरित्रों को बड़े चाव से पढ़ती है। मीरा पर उसे असीम श्रद्धा है। वह बहुधा धार्मिक ग्रन्थ ही पढ़ती है। लेकिन ज्ञान की अपेक्षा भक्ति में उसे अधिक शान्ति मिलती है।

मल्लाहों की स्त्रियों मे उसका बड़ा आदर है, वह उनके झगड़े चुकाती है, किसी के बच्चे के लिए कुर्ता-टोपी सीती है, किसी के लिए अंजन या घुट्टी बनाती है। उनमें कोई बीमार पड़ता है तो उसके घर जाती है और

दवा-दारू की फिक्र करती है। वह अपनी गिरी दीवाल को फिर से उठा रही है। उस बस्ती के सभी नर-नारी उसकी प्रशंसा करते हैं और उसका यश गाते हैं। हाँ, अगर आदर नहीं है तो अपने घर में। सुमन इस तरह जी तोड़कर घर का सारा बोझ सँभाले हुए है, लेकिन सदन के मुँह से कृतज्ञता का एक शब्द भी नहीं निकलता। शान्ता भी उसके इस परिश्रम का कुछ मूल्य नहीं समझती। दोनों-के-दोनों उसकी ओर से निश्चिन्त हैं, मानों वह घर की लौंडी है और चक्की में जुते रहना ही उसका धर्म है। कभी-कभी उसके सिर में दर्द होने लगता है, कभी दौड़-धूप से बुखार चढ़ आता है तब भी वह घर का सारा काम रीत्यनुसार करती रहती है। वह कभी-कभी एकान्त में अपनी इस दीन दशा पर घण्टों रोती रहती है, पर कोई ढाढ़स देनेवाला, कोई आँसू पोंछनेवाला नहीं।

लेकिन शान्ता और सदन की यह उदासीनता प्रेमलिप्सा के ही कारण थी, इसमें सन्देह है। सदन इस प्रकार सुमन से बचता था, जैसे हम कुष्ट रोगी से बचते हैं, उसपर दया करते हुए भी उसके समीप जाने की हिम्मत नहीं रखते। शान्ता उसपर अविश्वास करती थी, उसके रूप-लावण्य से डरती थी। कुशल यही थी कि सदन स्वयं सुमन से आँखें चुराता था, नहीं तो शान्ता इससे जल ही जाती। अतएव दोनों चाहते थे कि यह आस्तीन का साँप आँखों से दूर हो जाय, लेकिन संकोचवश यह आपस में भी इस विषय को छेड़ने से डरते थे।

सुमन पर यह रहस्य शनैः-शनैः खुलता जाता था।

एक बार जीतन कहार शर्माजी के यहाँ से सदन के लिए कुछ सौगात लाया। था इसके पहले भी वह कई बार आया था, लेकिन उसे देखते ही सुमन छिप जाया करती थी। अबकी जीतन की निगाह उसपर पड़ गयी। फिर क्या था, उसके पेट में चूहे दौड़ने लगे! वह पत्थर खाकर पचा सकता था, पर कोई बात पचाने की शक्ति उसमें न थी। मल्लाहों के चौधरी के पास चिलम पीने के बहाने गया और सारी रामकहानी सुना आया। चौधरी सन्नाटे में आ गया, मल्लाहिनों में भी इशारेबाजियाँ होने

लगीं। उस दिन से कोई मल्लाह सदन के घर का पानी न पीता, उनकी स्त्रियों ने सुमन के पास आना-जाना छोड़ दिया। इसी तरह एक बार लाला भगतराम ईंटों की लदायी का हिसाब करने आये। प्यास मालूम हुई तो मल्लाह से पानी लाने को कहा। मल्लाह कुएँ से पानी लाया। सदन के घर में बैठे हुए बाहर से पानी मँगाकर पीना सदन की छाती में छुरी मारने से कम न था।

अन्त में दूसरा साल जाते-जाते यहाँ तक नौबत पहुँची कि सदन जरा-जरा-सी बात पर सुमन से झुँझला जाता और चाहे कोई लागू बात न कहे, पर उसके मन के भाव झलक ही पड़ते थे।

सुमन को मालूम हो रहा था कि अब मेरा निर्वाह यहाँ न होगा। उसने समझा था कि यहीं बहन-बहनोई के साथ जीवन समाप्त हो जायगा। उनकी सेवा करूँगी, एक टुकड़ा खाऊँगी और एक कोने में पड़ी रहूँगी। इसके अतिरिक्त जीवन में अब उसे कोई लालसा नहीं थी, लेकिन हा शोक! यह तख्ता भी उसके पैरों के नीचे से सरक गया और अब वह निर्दयी लहरों की गोद में थी!

लेकिन सुमन को अपनी परिस्थिति पर दुःख चाहे कितना ही हुआ हो, उसे सदन या शान्ता से कोई शिकायत न थी। कुछ तो धार्मिक प्रेम और कुछ अपनी अवस्था के वास्तविक ज्ञान ने उसे अत्यन्त नम्र, विनीत बना दिया था। वह बहुत सोचती कि कहाँ जाऊँ, जहाँ अपनी जान-पहचान का कोई आदमी न हो, लेकिन उसे ऐसा कोई ठिकाना न दिखायी देता। अभी तक उसकी निर्बल आत्मा कोई अवलम्ब चाहती थी। बिना किसी सहारे के संसार में रहने का विचार करके उसका कलेजा काँपने लगता था। वह अकेली असहाय, संसार-संग्राम में आने का साहस न कर सकती थी।

एक दिन सदन दस बजे कहीं से घूमकर आया और बोला, भोजन में अभी कितनी देर है, जल्दी करो। मुझे पण्डित उमानाथ से मिलने जाना है। चाचा के यहाँ आये हुए हैं।

शान्ता ने पूछा, वह यहाँ कैसे आये ?

सदन—अब यह मुझे क्या मालूम ? अभी जीतन आकर कह गया है कि वह आये हुए हैं और आज ही चले जायँगे। यहाँ आना चाहते थे, लेकिन (सुमन की ओर इशारा) किसी कारण से नहीं आये।

शान्ता—तो जरा बैठ जाओ; यहाँ अभी घण्टों की देर है।

सुमन ने झुँझलाकर कहा, देर क्या है, सब कुछ तो तैयार है। आसन बिछा दो, पानी रख दो, मैं थाली परसती हूँ।

शान्ता—अरे, तो जरा ठहर ही जायँगे तो क्या होगा ? कोई डाक-गाड़ी छूटी जाती है ? कच्चा-पक्का खाने का क्या काम ?

सदन—मेरी समझ में नहीं आता कि दिन-भर क्या होता रहता है ? जरा-सा भोजन बनाने में इतनी देर हो जाती है।

सदन जब भोजन करके चला गया, तब सुमन ने शान्ता से पूछा, क्यों शान्ता, सच बता, तुझे मेरा यहाँ रहना अच्छा नहीं लगता ? तेरे मन में जो कुछ है वह मैं जानती हूँ, लेकिन तू जब तक अपने मुँह से मुझे दुत्कार न देगी, मैं जाने का नाम न लूँगी। मेरे लिए कहीं ठिकाना नहीं है।

शान्ता—बहन, कैसी बात कहती हो, तुम रहती हो तो घर सँभला हुआ है, नहीं तो मेरे किये क्या होता ?

सुमन—यह मुँहदेखी बातें मत करो, मैं ऐसी नादान नहीं हूँ। मैं तुम दोनों आदमियों को अपनी ओर से कुछ खिंचा हुआ पाती हूँ।

शान्ता—नहीं बहन, यह बात नहीं है। तुमने मेरे साथ जो उपकार किये हैं, वह मैं कभी न भूलूँगी। लेकिन बात यह है कि उनकी बदनामी हो रही है। लोग मनमानी बातें उड़ाया करते हैं। वह (सदनसिंह) कहते थे कि सुभद्राजी यहाँ आने को तैयार थीं, लेकिन तुम्हारे रहने की बात सुनकर नहीं आयीं। और बहन, बुरा न मानना, जब संसार में यही प्रथा चल रही है तो हम लोग क्या कर सकते हैं।

सुमन ने विवाद न किया। उसे आज्ञा मिल गयी। अब केवल एक

रुकावट थी। शान्ता थोड़े ही दिनों में बच्चे की मा बननेवाली थी। सुमन ने अपने मन को समझाया; इस समय छोड़कर चली जाऊँगी तो इसे कष्ट होगा। कुछ दिन और सह लूँ, जहाँ इतने दिन काटे हैं, महीने दो महीने और सही। मेरे ही कारण यह इस विपत्ति में फँसे हुए हैं। ऐसी अवस्था में इन्हें छोड़कर जाना मेरा धर्म नहीं है।

सुमन का यहाँ एक-एक दिन एक-एक साल की तरह कटता था, लेकिन सब्र किये पड़ी हुई थी।

पंखहीन पक्षी पिंजरबद्ध रहने में ही अपनी कुशल समझता है।

४१

परिडत पद्मसिंह के चार-पाँच मास के सदुद्योग का फल यह हुआ कि २०-२५ वेश्याओं ने अपनी लड़कियों को अनाथालय में भेजना स्वीकार कर लिया। तीन वेश्याओं ने अपनी सारी सम्पत्ति अनाथालय के निमित्त अर्पण कर दी, पाँच वेश्याएँ निकाह करने पर राजी हो गयीं। सच्ची हिताकांक्षा कभी निष्फल नहीं होती। अगर समाज को विश्वास हो जाय कि आप उसके सच्चे सेवक हैं, आप उनका उद्धार करना चाहते हैं, आप निःस्वार्थ हैं तो वह आपके पीछे चलने को तैयार हो जाता है। लेकिन यह विश्वास सच्चे सेवाभाव के बिना कभी प्राप्त नहीं होता। जब तक अन्तःकरण दिव्य और उज्ज्वल न हो, वह प्रकाश का प्रतिबिम्ब दूसरों पर नहीं डाल सकता। पद्मसिंह में सेवाभाव का उदय हो गया था। हममें कितने ही ऐसे सज्जन हैं जिनके मस्तिष्क में राष्ट्र की कोई सेवा करने का विचार उत्पन्न होता है, लेकिन बहुधा वह विचार ख्याति-लाभ की आकांक्षा से प्रेरित होता है। हम वह काम करना चाहते हैं जिसमें हमारा नाम प्राणिमात्र की जिह्वा पर हो, कोई ऐसा लेख अथवा ग्रन्थ लिखना चाहते हैं, जिसकी लोग मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करें, और प्रायः हमारे इस स्वार्थ-प्रेम का कुछ न-कुछ बदला भी हमको मिल जाता है, लेकिन जनता के हृदय में हम घर नहीं कर सकते। कोई मनुष्य चाहे वह कितने ही दुःख में हो, उस व्यक्ति के सामने अपना शोक प्रकट नहीं करना चाहता जिसे

वह अपना सच्चा मित्र न समझता हो।

पद्मसिंह को अब दालमण्डी में जाने का बहुत अवसर मिलता था और वह वेश्याओं के जीवन का जितना ही अनुभव करते थे उतना ही उन्हें दुःख होता था। ऐसी-ऐसी सुकोमल रमणियों को भोगविलास के लिए अपना सर्वस्व गँवाते देखकर उनका हृदय करुणा से विह्वल हो जाता था, उनकी आँखों से आँसू निकल पड़ते थे। उन्हें अब ज्ञात हो रहा था कि यह स्त्रियाँ विचार-शून्य नहीं, भाव शून्य नहीं, बुद्धिहीन नहीं, लेकिन माया के हाथों में पड़कर उनकी सारी सद्वृत्तियाँ उल्टे मार्ग पर जा रही हैं, तृष्णा ने उनकी आत्माओं को निर्बल, निश्चेष्ट बना दिया है। पद्मसिंह इस माया-जाल को तोड़ना चाहते थे, वह उन भूली हुई आत्माओं को सचेत किया चाहते थे, वह उनको इस अज्ञानावस्था से मुक्त किया चाहते थे; पर माया-जाल इतना दृढ़ था और अज्ञान-बंधन इतना पुष्ट तथा-निंद्रा इतनी गहरी कि पहले छः महीनों में उससे अधिक सफलता न हो सकी, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। शराब के नशे में मनुष्य की जो दशा हो जाती है वही दशा इन वेश्याओं की हो गयी थी।

उधर प्रभाकरराव और उनके मित्रों ने उस प्रस्ताव के शेष भागों को फिर बोर्ड में उपस्थित किया। उन्होंने केवल पद्मसिंह से द्वेष हो जाने के कारण उन मन्तव्यों का विरोध किया था, पर अब पद्मसिंह का वेश्यानुराग देखकर वह उन्हीं के बनाये हुए हथियारों से उनपर आघात कर बैठे। पद्मसिंह उस दिन बोर्ड नहीं गये, डाक्टर श्यामाचरण नैनीताल गये हुए थे, अतएव वे दोनों मन्तव्य निर्विघ्न पास हो गये।

बोर्ड की ओर से अलईपुर के निकट वेश्याओं के लिए मकान बनाये जा रहे थे। लाला भगतराम दत्तचित्त होकर काम कर रहे थे। कुछ कच्चे घर थे, कुछ पक्के, कुछ दुमञ्जिले, एक छोटा-सा बाजार, एक छोटा-सा औषधालय और एक पाठशाला भी बनायी जा रही थी। हाजी हाशिम ने एक मसजिद बनवानी आरम्भ की थी और सेठ चिम्मनलाल की ओर से एक मन्दिर बन रहा था। दीनानाथ तिवारी ने एक बाग की नींव डाल

दी थी। आशा तो थी कि नियत समय के अन्दर भगतराम काम समाप्त कर देंगे। मिस्टर दत्त और पण्डित प्रभाकरराव तथा मिस्टर शाकिर बेग उन्हें चैन न लेने देते थे। लेकिन काम बहुत था, और बहुत जल्दी करने पर भी एक साल लग गया। बस इसी की देर थी। दूसरे ही दिन वेश्याओं को दालमण्डी छोड़कर इन नये मकानों में आबाद होने का नोटिस दे दिया गया।

लोगों को शंका थी कि वेश्याओं की ओर से इसका विरोध होगा, पर उन्हें यह देखकर आमोदपूर्ण आश्चर्य हुआ कि वेश्याओं ने प्रसन्नतापूर्वक इस आज्ञा का पालन किया। सारी दालमण्डी एक दिन में खाली हो गयी। जहाँ निशिवासर एक श्री-सी बरसती थी, वहाँ सन्ध्या होते सन्नाटा छा गया। न तबलों की थाप थी, न सरंगियों की अलाप, न मधुर स्वरों का गाना, न रसिकजनों का आना-जाना। अनाज कट जाने पर खेत की जो दशा हो जाती है, वही दालमण्डी की हो रही थी।

४२

एक दिन मदनसिंह दरवाजे पर बैठे हुए प्रेमसागर पढ़ रहे थे। कृष्ण की बाल-लीला में उन्हें बच्चों का-सा आनन्द आ रहा था। सन्ध्या हो गयी थी। अक्षर सूझ न पड़ते थे, पर उनका मन ऐसा लगा हुआ था कि उठने की इच्छा न होती थी। अकस्मात् कुत्तों के भूँकने ने किसी नये आदमी के गाँव में आने की सूचना दी। मदनसिंह की छाती धड़कने लगी। कहीं सदन तो नहीं आ रहा है। किताब बन्द करके उठे तो पद्मसिंह को आते देखा। पद्मसिंह ने उनके चरण छुए, फिर दोनों भाइयों में बातचीत होने लगी।

मदन—सब कुशल है?

पद्म—जी हाँ, ईश्वर की दया है।

मदन—भला उस बेईमान की भी खोज-खबर मिली है?

पद्म—जी हाँ, अच्छी तरह है। दसवें-पाँचवें मेरे यहाँ आया करता है। मैं कभी-कभी हाल-चाल पुछवा लेता हूँ। कोई चिन्ता की बात नहीं है।

मदन—भला वह पापी कभी हम लोगों की भी चर्चा करता है या बिल्कुल मरा समझ लिया ? क्या यहाँ आने की कसम खा ली है। क्या हम लोग मर जायँगे तभी आयेगा ? अगर उसकी यही इच्छा है तो हम लोग कहीं चले जायँ। अपना घर-द्वार ले, अपना घर सँभाले। सुनता हूँ, वहाँ मकान बनवा रहा है। वह तो वहाँ रहेगा और यहाँ कौन रहेगा ? यह मकान किसके लिए छोड़ देता है ?

पद्म—जी नहीं, मकान-वकान कहीं नहीं बनवाता, यह आपसे किसी ने झूठ कह दिया। हाँ, चूने की कल खड़ी कर ली है और यह भी मालूम हुआ है कि नदी पार थोड़ी-सी जमीन भी लेना चाहता है।

मदन—तो उससे कह देना, पहले आकर इस घर में आग लगा जाय तब वहाँ जगह-जमीन ले।

पद्म—यह आप क्या कहते हैं, वह केवल आप लोगों की अप्रसन्नता के भय से नहीं आता। आज उसे मालूम हो जाय कि आपने उसे क्षमा कर दिया तो सिर के बल दौड़ा आये। मेरे पास आता है तो घण्टों आप ही की बातें करता रहता है। आपकी इच्छा हो तो कल ही चला आये।

मदन—नहीं, मैं उसे बुलाता नहीं। हम उसके कौन होते हैं जो यहाँ आयेगा ? लेकिन यहाँ आये तो कह देना जरा पीठ मजबूत कर रखे। उसे देखते ही मेरे सिर पर शैतान सवार हो जायगा और मैं डण्डा लेकर पिल पड़ूँगा। मूर्ख मुझसे रूठने चला है। तब नहीं रूठा था जब पूजा के समय पोथी पर राल टपकाता था, खाने की थाली के पास पेशाब करता था। उसके मारे कपड़े साफ न रहने पाते थे। उजले कपड़े को तरस के रह जाता था। मुझे साफ कपड़े पहने देखता तो बदन में धूल-मिट्टी लपेटे आकर सिर पर सवार हो जाता। तब क्यों नहीं रूठता था ? आज रूठने चला है। अबकी पाऊँ तो ऐसी कनेठी दूँ कि छठी का दूध याद आ जायगा।

दोनों भाई घर गये। भामा बैठी गाय को भूसा खिला रही थी और

सदन की दोनों बहनें खाना पकाती थीं। भामा देवर को देखते ही खड़ी हो गयी और बोली, भला तुम्हारे दर्शन तो हुए। चार पग पर रहते हो और इतना भी नहीं होता कि महीने मे एक बार तो जाकर देख आयें—घरवाले मरे कि जीते हैं। कहो, कुशल से तो हो?

पद्म—हाँ, सब तुम्हारा आशीर्वाद है। कहो, खाना क्या बन रहा है? मुझे इस वक्त खीर, हलुवा और मलाई खिलाओ तो वह सुख संवाद सुनाऊँ कि फड़क जाओ। पोता मुबारक हो।

भामा के मलीन मुख पर आनन्द की लालिमा छा गयी और आँखों की पुतलियाँ पुष्प के समान खिल उठीं। बोली, चलो, घी-शक्कर के मटके में डुबो दूँ, जितना खाते बने खाओ।

मदनसिंह ने मुँह बनाकर कहा, यह तो तुमने बुरी खबर सुनाई। क्या ईश्वर के दरबार में उल्टा न्याय होता है? मेरा बेटा छिन जाय और उसे बेटा मिल जाय। अब वह एक से दो हो गया। मैं उससे कैसे जीत सकूँगा। हारना पड़ा। वह मुझे अवश्य खींच ले जायगा। मेरे तो कदम अभी से उखड़ गये। सचमुच ईश्वर के यहाँ बुराई करने पर भलाई होती है। उल्टी बात है कि नहीं। लेकिन अब मुझे चिन्ता नहीं है। सदन जहाँ चाहे जाय, ईश्वर ने हमारी सुन ली। कै दिन का हुआ है।

पद्म—आज चौथा दिन है, मुझे छुट्टी नहीं मिली नहीं तो पहले ही दिन आता।

मदन—क्या हुआ, छठी तक पहुँच जायँगे, धूमधाम से छठी मनायेंगे। बस कल चलो।

भामा फूली न समाती थी। हृदय पुलकित हो रहा था। जी चाहता था कि किसे क्या दे दूँ? क्या लुटा दूँ? जी चाहता था घर में सोहर उठे, दरवाजे पर शहनाई बजे, पड़ोसिनें बुलायी जायँ। गाने-बजाने की मंगल ध्वनि से गाँव गूँज उठे। उसे ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानों आज संसार में कोई असाधारण बात हो गयी है, मानों सारा संसार सन्तानहीन है और एक मैं ही पुत्र-पौत्रवती हूँ।

एक मजदूर ने आकर कहा, भौजी एक साधु द्वार पर आये हैं। भामा ने तुरन्त इतनी जिन्स भेज दी जो चार साधुओं के खाने से भी न चुकती।

ज्योंही लोग भोजन कर चुके, भामा अपनी दोनों लड़कियों के साथ ढोल लेकर बैठ गयी और आधी रात तक गाती रही। ✓

४३

सन्ध्या का समय है। आकाश पर लालिमा छायी हुई है और मन्द वायु गंगा की लहरों पर क्रीड़ा कर रही है, उन्हें गुदगुदा रही है। वह अपने करुण नेत्रों से मुस्कराती है और कभी-कभी खिलखिलाकर हँस पड़ती है, तब उसके मोती के दाँत चमक उठते हैं। सदन का रमणीय झोपड़ा आज फूलों और लताओं से सजा हुआ है। दरवाजे पर मल्लाहों की भीड़ है। अन्दर उनकी स्त्रियाँ बैठी सोहर गा रही हैं। आँगन में भट्ठी खुदी हुई है और बड़े-बड़े हण्डे चढ़े हुए हैं। आज सदन के नवजात पुत्र की छठी है, यह उसी का उत्सव है।

लेकिन सदन बहुत उदास दिखायी देता है। वह सामने के चबूतरे पर बैठा हुआ गंगा की ओर देख रहा है। उसके हृदय में भी विचार की लहरें उठ रही हैं। ना! वह लोग न आयेंगे। आना होता तो आज छः दिन बीत गये, आ न जाते? यदि मैं जानता कि वे न आयेंगे तो मैं चाचा से भी यह समाचार न कहता। उन्होंने मुझे मरा हुआ समझ लिया है, वह मुझसे कोई सरोकार नहीं रखना चाहते, मैं जीऊँ या मरूँ, उन्हें परवाह नहीं है। लोग ऐसे अवसर पर अपने शत्रुओं के घर भी जाते हैं, प्रेम से न आते, दिखावे के लिए ही आते, व्यवहार के तौर पर आते, मुझे मालूम तो हो जाता कि संसार में मेरा कोई है। अच्छा न आयें, इस काम से छुट्टी मिली तो एक बार मैं स्वयं जाऊँगा और सदा के लिए निपटारा कर आऊँगा। लड़का कितना सुन्दर है, कैसे लाल-लाल ओठ हैं, बिल्कुल मुझी को पड़ा है। हाँ, आँखें शान्ता की हैं। मेरी ओर कैसे ध्यान से टुकुर-टुकुर ताकता था। दादा को तो मैं नहीं कहता, लेकिन

अम्माँ उसे देखें तो एक बार गोद में अवश्य ही ले लें।

सदन इन्हीं कल्पनाओं का आनन्द ले रहा था। चारों ओर अँधेरा छाने लगा था कि इतने में उसने सड़क की ओर से एक गाड़ी आती देखी। चाचा साहब के सिवा और कौन होगा? मेरा और है ही क़ौन? इतने में गाड़ी निकट आ गयी और उसमें से मदनसिंह उतरे। इस गाड़ी के पीछे एक और गाड़ी थी। सुभद्रा और भामा उसमें से उतरीं। सदन की दोनों बहने भी थीं। जीतन कोचबक्स पर से उतरकर लालटेन दिखाने लगा। सदन इतने आदमियों को उतरते देखकर समझ गया कि घर के लोग आ गये पर वह उनसे मिलने के लिए नहीं दौड़ा। वह समय बीत चुका था जब वह उन्हें मनाने जाता। अब उसके मान करने का उपाय आ गया था। वह चबूतरे पर से उठकर झोपड़े में चला गया, मानों उसने किसी को देखा ही नहीं। उसने मन में कहा, ये लोग समझते होंगे कि इनके बिना मैं बेहाल हुआ जाता हूँ, पर उन्हें जैसे मेरी परवाह नहीं, उसी प्रकार मैं भी इनकी परवाह नहीं करता।

सदन झोपड़े में जाकर ताक रहा था कि देखें यह लोग क्या करते हैं? इतने में उसने जीतन को दरवाजे पर आकर पुकारते हुए देखा। कई मल्लाह इधर-उधर से दौड़े। सदन बाहर निकल आया और दूर से ही अपनी माता को प्रणाम करके एक किनारे खड़ा हो गया।

मदनसिंह बोले, तुम तो इस तरह खड़े हो मानों हमें पहचानते ही नहीं। मेरे न सही, पर माता के चरण छूकर आशीर्वाद तो ले लो।

सदन—मेरे छू लेने से आपका धर्म बिगड़ जायगा।

मदनसिंह ने भाई की ओर देखकर कहा, देखते हो इसकी बात। मैं तो तुमसे कहता था कि वह हम लोगों को भूल गया होगा, लेकिन तुम खींच लाये। अपने माता-पिता को द्वार पर खड़े देखकर भी इसे दया नहीं आती।

भामा ने आगे बढ़कर कहा, बेटा सदन। दादा के चरण छूओ, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बातें करते हो!

सदन अधिक मान न कर सका। आँखों में आँसू भरे पिता के चरणों पर गिर पड़ा। मदनसिंह भी रोने लगे।

इसके बाद वह माता के चरणों पर गिरा। माता ने उठाकर छाती से लगा लिया और आशीर्वाद दिया।

आनन्द के मारे सदन के पैर जमीन पर नहीं पड़ते। वह अब मल्लाहो को कोई-न-कोई काम करने का हुक्म देकर दिखा रहा है कि मेरा यहाँ कितना राब है। कोई चारपाई निकालने जाता है, कोई बाजार दौड़ा जाता है। मदनसिंह फूले नहीं समाते और अपने भाई के कानों में कहते हैं, सदन तो बड़ा चतुर निकला। मैं तो समझता था, किसी तरह पड़ा दिन काट रहा होगा; पर यहाँ तो बड़ा ठाठ है।

इधर भामा और सुभद्रा भीतर गयीं। भामा चारों ओर चकित होकर देखती थी। कैसी सफाई है! सब चीजें ठिकाने से रखी हुई हैं।

वह सौरी गृह में गयीं तो शान्ता ने अपनी दोनों सासों के चरण स्पर्श किये। भामा ने बालक को गोद में ले लिया। उसे ऐसा मालूम हुआ मानों वह कृष्ण का ही अवतार है। उसकी आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे।

थोड़ी देर में उसने मदनसिंह से आकर कहा, और जो कुछ हो पर तुमने बहू बड़ी रूपवती पायी है। गुलाब का फूल है और बालक तो साक्षात् भगवान् का अवतार ही है।

मदन—ऐसा तेजस्वी न होता तो मदनसिंह को खींच कैसे लाता!

भामा—बहू बड़ी सुशीला मालूम होती है।

मदन—तभी तो सदन ने उसके पीछे मा-बाप को त्याग दिया था।

सब लोग अपनी-अपनी धुन में मग्न थे, पर किसी को सुधि न थी कि अभागिन सुमन कहाँ है!

सुमन गंगा तट पर सन्ध्या करने गयी थी। जब वह लौटी तो उसे झोंपड़े के द्वार पर गाड़ियाँ खड़ी दिखायी दीं। दरवाजे पर कई आदमी बैठे थे। पद्मसिंह को पहचाना। समझ गयी कि सदन के माता-पिता आ

गये। वह आगे न बढ़ सकी। उसके पैरों में बेड़ी-सी पड़ गयी। उसे मालूम हो गया कि अब यहाँ मेरे लिए स्थान नहीं है, अब यहाँ से मेरा नाता टूटता है। वह मूर्तिवत् खड़ी सोचने लगी कि कहाँ जाऊँ?

इधर एक मास से शान्ता और सुमन में बहुत मन मुटाव हो गया था। वही शान्ता जो विधवा आश्रम में दया और शान्ति की मूर्ति बनी हुई थी, अब सुमन को जलाने और रुलाने पर तत्पर रहती थी। उम्मेद-वारी के दिनों में हम जितने विनयशील और कर्तव्यपरायण होते हैं उतने ही अगर जगह पाने पर बने रहें तो हम देवतुल्य हो जायँ।

लेकिन सुमन सब कुछ देखते हुए भी न देखती थी, सब कुछ सुनते हुए भी कुछ न सुनती थी। नदी में डूबते हुए मनुष्य के समान वह इस तिनके के सहारे को भी छोड़ न सकती थी। वह अपना जीवन-मार्ग स्थिर न कर सकती थी, पर इस समय सदन के माता-पिता को यहाँ देखकर उसे यह सहारा छोड़ना पड़ा, इच्छा-शक्ति जो कुछ न कर सकती थी वह अवस्था ने कर दिखाया।

वह पाँव दबाती हुई, धीरे-धीरे झोंपड़े के पिछवाड़े आयी और कान लगाकर सुनने लगी कि देखूँ यह लोग मेरी कुछ चर्चा तो नहीं कर रहे हैं! आध घण्टे तक वह इसी प्रकार खड़ी रही। भामा और सुभद्रा इधर-उधर की बातें कर रही थीं। अन्त में भामा ने कहा, क्या अब इसकी बहन यहाँ नहीं रहती?

सुभद्रा—रहती क्यों नहीं, वह कहीं जानेवाली है?

भामा—दिखायी नहीं देती।

सुभद्रा—किसी काम से गयी होगी। घर का सारा काम तो वही सँभाले हुए है।

भामा—आये तो कह देना कि कहीं बाहर लेट रहे। सदन उसी का बनाया खाता होगा?

शान्ता सौरी गृह में से बोली, नहीं, अभी तक तो मैं ही बनाती रही हूँ, आजकल वह अपने हाथों से बना लेते हैं।

भामा—तब भी घड़ा-बरतन तो वह छूती ही रही होगी। यह घड़ा फेंकवा दो, बरतन फिर से धुल जायँगे।

सुभद्रा—बाहर कहाँ सोने की जगह है ?

भामा—हो चाहे न हो, लेकिन यहाँ मैं उसे सोने न दूँगी। वैसी स्त्री का क्या विश्वास ?

सुभद्रा—नहीं दीदी, वह अब वैसी नहीं है। वह बड़े नेम-धरम से रहती है।

भामा—चलो, वह बड़ी नेम-धरम से रहनेवाली है! सात घाट का पानी पीके आज नेमवाली बनी है। देवता की मूरत टूटकर फिर नहीं जुड़ती। वह अब देवी बन जाय तब भी मैं उसका विश्वास न करूँ।

सुमन इससे ज्यादा न सुन सकी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानों किसी ने लोहा लाल करके उसके हृदय में चुभा दिया। उल्टे पाँव लौटी और उसी अन्धकार में एक ओर चल पड़ी।

अन्धेरा खूब छाया था, रास्ता भी अच्छी तरह न सूझता था, पर सुमन गिरती-पड़ती चली जाती थी, मालूम नहीं कहाँ, किधर ! वह अपने होश में न थी। लाठी खाकर घबराये हुए कुत्ते के समान वह मूर्छावस्था में लुढ़कती जा रही थी। सँभलना चाहती थी, पर सँभल न सकती थी। यहाँ तक कि उसके पैर में एक बड़ा-सा काँटा चुभ गया। वह पैर पकड़कर बैठ गयी। चलने की शक्ति न रही।

उसने बेहोशी के बाद होश में आनेवाले मनुष्य के समान इधर-उधर चौंककर देखा। चारों ओर सन्नाटा था, गहरा अन्धकार छाया था, केवल सियार अपना राग अलाप रहे थे। यहाँ मैं अकेली हूँ, यह सोचकर सुमन के रोएँ खड़े हो गये। अकेलापन किसे कहते हैं, यह उसे आज मालूम हुआ। उसने घबराकर आँखें बन्द कर लीं।

सुमन सोचने लगी, मैं कैसी अभागिनी हूँ। और तो और, अपनी सगी बहन भी अब मेरी सूरत नहीं देखना चाहती। उसे कितना अपनाना चाहा, पर वह अपनी न हुई। मेरे सिर कलंक का टीका लग गया और

वह अब धोने से नहीं धुल सकता। मैं उसको या किसी को दोष क्यों दूँ! हा प्रभो! तुम सुन्दरता देकर मन को चंचल क्यों बना देते हो! मैंने सुन्दर स्त्रियों को प्रायः चंचल ही पाया। कदाचित् ईश्वर इस युक्ति से हमारी आत्मा की परीक्षा करते हैं।

सुमन बहुत देर तक इन्हीं विचारों में मग्न रही। इससे उसके हृदय को शान्ति न होती थी। आज तक उसने इस प्रकार कभी आत्म-विचार नहीं किया था। इस संकट में पड़कर उसकी सदिच्छा जाग्रत हो गयी थी।

रात बीत चुकी थी। बसन्त की शीतल वायु चलने लगी। सुमन ने साड़ी समेट ली और घुटनों पर सिर रख लिया। उसे वह दिन याद आया, जब इसी ऋतु में, इसी समय, वह अपने पति के द्वार पर बैठी हुई सोच रही थी कि कहाँ जाऊँ! उस समय वह विलास की आग में जल रही थी। आज भक्ति की शीतल छाया ने उसे आश्रय दिया था।

एकाएक उसकी आँखें झपक गयीं। उसने देखा कि स्वामी गजानन्द मृगचर्म धारण किये उसके सामने खड़े दयापूर्ण नेत्रों से उसकी ओर ताक रहे हैं। सुमन उनके चरणों पर गिर पड़ी और दीन भाव से बोली, स्वामी! मेरा उद्धार कीजिए।

सुमन ने देखा कि स्वामीजी ने उसके सिर पर दया से हाथ फेरा और कहा, ईश्वर ने मुझे इसीलिए तुम्हारे पास भेजा है, बोलो क्या चाहती हो?

सुमन—महाराज, मुझे ज्ञान दीजिए।

स्वामी—अच्छा तो सुनो, सतयुग में मनुष्य की मुक्ति ज्ञान से होती थी, त्रेता में सत्य से, द्वापर में भक्ति से, पर इस कलियुग में इसका केवल एक ही मार्ग है, और वह है सेवा। इसी मार्ग पर चलो और तुम्हारा उद्धार होगा। जो लोग तुमसे भी दीन, दुखी, दलित हैं, उनकी शरण में जाओ और उनका आशीर्वाद तुम्हारा उद्धार करेगा। कलियुग में परमात्मा इसी दुःखसागर में वास करते हैं।

सुमन की आँखें खुल गयीं। उसने इधर-उधर देखा, उसे निश्चय था कि मैं जागती थी। इतनी जल्दी स्वामीजी कहाँ अदृश्य हो गये। अकस्मात्

उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि सामने पेड़ों के नीचे स्वामीजी लालटेन लिये खड़े हैं। वह उठकर लँगड़ाती उनकी ओर चली।

उसने अनुमान किया था कि वह वृक्ष समूह १२० गज के अन्तर पर होगा, पर वह सौ के बदले दो सौ, तीन सौ, चार सौ गज चली गय ओर वह वृक्षपुंज और उनके नीचे स्वामीजी लालटेन लिये हुए उतनी ही दूर खड़े थे।

सुमन को भ्रम हुआ, मैं सो तो नहीं रही हूँ? यह कोई स्वप्न तो नहीं है? इतना चलने पर भी वह उतनी ही दूर है! उसने जोर से चिल्लाकर कहा—महाराज आती हूँ, आप ठहर जाइए।

उसके कानों में शब्द सुनायी दिये, चली आओ, मैं खड़ा हूँ।

सुमन फिर चली, पर दो सौ कदम चलने पर वह थककर बैठ गयी। वह वृक्ष समूह और स्वामीजी ज्यों-के-त्यों सामने सौ गज की दूरी परी खड़े थे।

भय से सुमन के रोएँ खड़े हो गये। उसकी छाती धड़कने लगी और पैर थर-थर काँपने लगे। उसने चिल्लाना चाहा; पर आवाज न निकली।

उसने देखा कि स्वामीजी एक छोटी-सी झोपड़ी में चले गये और वृक्ष समूह अदृश्य हो गया। सुमन ने समझा, यही उनकी कुटी है। उसे बड़ा धीरज हुआ। अब स्वामीजी से अवश्य भेंट होगी। उन्हीं से यह रहस्य खुलेगा।

उसने कुटी के द्वार पर जाकर कहा, स्वामीजी, मैं हूँ सुमन।

यह कुटी गजानन्द की ही थी, पर वह सोये हुए थे। सुमन को कुछ जवाब न मिला।

सुमन ने साहस करके कुटी में झाँका। आग जल रही थी और गजानन्द कम्बल ओढ़े सो रहे थे। सुमन को अचम्भा हुआ कि यह अभी तो चले आते हैं, इतनी जल्दी सो कैसे गये और लालटेन कहाँ चली गयी? जोर से पुकारा, स्वामीजी!

गजानन्द उठ बैठे और विस्मित नेत्रों से सुमन को देखा। वह एक

मिनट तक ध्यानपूर्वक उसे देखते रहे। तब बोले, कौन सुमन?

सुमन—हाँ महाराज, मैं हूँ।

गजानन्द—मैं अभी-अभी तुम्हें स्वप्न में देख रहा था।

सुमन ने चकित होकर कहा, आप तो अभी-अभी कुटी में आये हैं।

गजानन्द—नहीं, मुझे सोये बहुत देर हुई, मैं तो कुटी से निकला नहीं। अभी स्वप्न में तुम्हीं को देख रहा था।

सुमन—और मैं आप ही के पीछे-पीछे गंगा-किनारे से चली आ रही हूँ। आप लालटेन लिये मेरे सामने चले आते थे।

गजानन्द ने मुस्कराकर कहा, तुम्हें धोखा हुआ।

सुमन—धोखा होता तो मैं बिना देख-सुने यहाँ कैसे पहुँच जाती! मैं नदी किनारे अकेले सोच रही थी कि मेरा उद्धार कैसे होगा! मैं परमात्मा से विनय कर रही थी कि मुझपर दया करो और अपनी शरण में लो। इतने मे आप वहाँ पहुँचे और मुझे सेवाधर्म का उपदेश दिया। मैं आपसे कितनी ही बातें पूछना चाहती थी, पर आप अदृश्य हो गये। किन्तु एक क्षण में मैंने आपको लालटेन लिये थोड़ी दूर पर खड़े देखा। बस, आपके पीछे दौड़ी। यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आता। कृपा करके मुझे समझाइए।

गजानन्द—संभव है, ऐसा ही हुआ हो, पर यह बातें अभी तुम्हारी समझ में नहीं आयेंगी।

सुमन—कोई देवता तो नहीं थे, जो आपका भेष धारण करके मुझे आपकी शरण में लाये हों!

गजानन्द—यह भी संभव है। तुमने जो कुछ कहा वही मैं स्वप्न में देख रहा था और तुम्हें सेवाधर्म का उपदेश कर रहा था। सुमन, तुम मुझे भलीभाँति जानती हो, तुमने मेरे हाथों बहुत दुःख उठाये हैं, बहुत कष्ट सहे हैं। तुम जानती हो, मैं कितनी नीच प्रकृति का अधम जीव हूँ, लेकिन अपनी उन नीचताओं का स्मरण करता हूँ तो मेरा हृदय व्याकुल हो जाता है। तुम आदर के योग्य थीं, मैंने तुम्हारा निरादार किया। यह

हमारी दुरवस्था का, हमारे दुःखों का मूल कारण है। ईश्वर वह दिन कब लायेगा कि हमारी जाति में स्त्रियों का आदर होगा। स्त्री मैले-कुचैले फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, आभूषण-विहीन होकर, आधे पेट सूखी रोटी खाकर, झोपड़े में रहकर, मेहनत-मजदूरी कर, सब कष्टों को सहते हुए भी आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है। केवल घर में उसका आदर होना चाहिए, उससे प्रेम होना चाहिए। आदर या प्रेम-विहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती, पर मैं अज्ञान-अविद्या के अन्धकार में पड़ा हुआ था। अपना उद्धार करने का कोई साधन मेरे पास न था। न ज्ञान था, न विद्या थी, न कर्म की सामर्थ्य थी। मैंने अपने बन्धुओं की सेवा करने का निश्चय किया। यही मार्ग मेरे लिए सबसे सरल था। तब से मैं यथाशक्ति इसी मार्ग पर चल रहा हूँ और अब मुझे अनुभव हो रहा है कि आत्मोद्धार के मार्गों में केवल नाम का अन्तर है। मुझे इस मार्ग पर चलकर शान्ति मिली है और मैं तुम्हारे लिए भी यही मार्ग सबसे उत्तम समझता हूँ।

सुमन को गजानन्द के मुखारविन्द पर एक विमल ज्योति का प्रकाश दिखायी दिया। उसके अन्तःकरण में एक अद्भुत श्रद्धा और भक्ति का भाव उदय हुआ। उसने सोचा, इनकी आत्मा में कितनी दया और प्रेम है। हाय! मैंने ऐसे नव-रत्न का तिरस्कार किया। इनकी सेवा में रहती तो मेरा जीवन सफल हो गया होता। बोली, महाराज, आप मेरे लिए ईश्वर रूप हैं, आप के ही द्वारा हमारा उद्धार हो सकता है। मैं अपना तन-मन आपकी सेवा में अर्पण करती हूँ। यही प्रतिज्ञा मैंने एक बार की थी, पर अज्ञानतावश उसका पालन न कर सकी। वह प्रतिज्ञा मेरे हृदय से न निकली थी। आज मैं सच्चे मन से यह प्रतिज्ञा करती हूँ। आपने मेरी बाँह पकड़ी थी, अब यद्यपि मैं पतित हो गई हूँ, पर आप ही अपनी उदारता से मुझे क्षमादान दीजिए और मुझे सन्मार्ग पर ले जाइए।

गजानन्द को इस समय सुमन के चेहरे पर प्रेम और पवित्रता की छटा दिखायी दी। वह व्याकुल हो गये। वह भाव, जिन्हें उन्होंने बरसों

से दबा रक्खे थे, जाग्रत होने लगे। सुख और आनन्द की नवीन भावनाएँ उत्पन्न होने लगीं। उन्हें अपना जीवन शुष्क, नीरस, आनन्दविहीन जान पड़ने लगा। वह इन कल्पनाओं से भयभीत हो गये। उन्हें शंका हुई कि यदि मेरे मन में यह विचार ठहर गये तो मेरा संयम, वैराग्य, सेवाव्रत इसके प्रवाह में तृण के समान बह जायँगे। वह बोल उठे, तुम्हें मालूम है कि यहाँ एक अनाथालय खोला गया है?

सुमन—हाँ, इसकी चर्चा सुनी तो थी।

गजानन्द—इस अनाथालय में विशेषकर वही कन्याएँ हैं जिन्हें वेश्याओं ने हमें सौंपा है। कोई ५० कन्यायें होंगी। इस अनाथालय के लिए एक पवित्र आत्मा की आवश्यकता है और तुम्हीं वह आत्मा हो। मैंने बहुत ढूँढा, पर कोई ऐसी महिला न मिली जो यह काम प्रेम-भाव से करे, जो कन्याओं का माता की भाँति पालन करे और अपने प्रेम से अकेली उनकी माताओं का स्थान पूरा कर दे। वह बीमार पड़ें तो उनकी सेवा करे, उनके फोड़े-फुन्सियाँ, मल-मूत्र देखकर घृणा न करे और अपने व्यवहार से उनमें धार्मिक भावों का ऐसा संचार कर दे कि उनमें पिछले कुसंस्कार मिट जायँ और उनका जीवन सुख से कटे। वात्सल्य के बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। ईश्वर ने तुम्हें ज्ञान और विवेक दिया है, तुम्हारे हृदय मे दया है, करुणा है, धर्म है और तुम्हीं इस कर्तव्य का भार सँभाल सकती हो। मेरी प्रार्थना स्वीकार करोगी?

सुमन की आँखें सजल हो गयीं। मेरे विषय में एक ज्ञानी महात्मा का यह विचार है, यह सोचकर उसका चित्त गद्गद हो गया। उसे स्वप्न में भी ऐसी आशा न थी कि उस पर इतना विश्वास किया जायगा और उसे सेवा का ऐसा महान् गौरव प्राप्त होगा। उसे निश्चय हो गया कि परमात्मा ने गजानन्द को यह प्रेरणा दी है। उसने अत्यन्त विनीत भाव से कहा, आप मुझे इस योग्य समझते हैं, यह मेरा परम सौभाग्य है। आपके बताये हुए आदर्श तक मैं पहुँच न सकूँगी, पर यथाशक्ति मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगी। यह कहते-कहते सुमन चुप हो गयी।

उसका सिर झुक गया, आँखें डबडबा आयीं। उसकी वाणी से जो कुछ न हो सका, वह उसके मुख के भाव ने प्रकट कर दिया।

गजानन्द ने कहा, मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी। परमात्मा तुम्हारा कल्याण करें।

यह कहकर गजानन्द उठ खड़े हुए। पौ फट रही थी, पपीहे की ध्वनि सुनाई दे रही थी। उन्होंने अपना कमण्डल उठाया और गंगास्नान करने चले गये।

सुमन ने कुटी के बाहर निकलकर देखा, जैसे हम नींद में जागकर देखते हैं। समय कितना सुहावना है, कितना शान्तिमय, कितना उत्साहपूर्ण! क्या उसका भविष्य भी ऐसा ही होगा? क्या उसके भविष्य-जीवन का भी प्रभात होगा, उसमें भी कभी उषा की झलक दिखाई देगी, कभी सूर्य का प्रकाश होगा? हाँ होगा और वह सुहावना शान्तिमय प्रभात आनेवाले दिनरूपी जीवन का प्रभात है।

४४

एक साल बीत गया। कार्तिक का महीना था। पद्मसिंह सुभद्रा को गंगा-स्नान कराने ले गये थे। लौटती बार वह अलईपुर की ओर से आ रहे थे। सुभद्रा गाड़ी की खिड़की से बाहर झाँकती चली आती थी और सोचती थी कि यहाँ इस सन्नाटे में लोग कैसे रहते हैं। उनका मन कैसे लगता है? इतने में उसे एक सुन्दर भवन दिखायी पड़ा, जिसके फाटक पर मोटे अक्षरों में लिखा था—सेवासदन।

सुभद्रा ने शर्माजी से पूछा, क्या यही सुमनबाई का सेवासदन है?

शर्माजी ने कुछ उदासीन भाव से कहा, हाँ, वह पछता रहे थे कि इस रास्ते से क्यों आये? यह अब अवश्य ही इस आश्रम को देखेगी। मुझे भी जाना पड़ेगा, बुरे फँसे। शर्माजी ने अब तक एक बार भी सेवासदन का निरीक्षण नहीं किया था। गजानन्द ने कितनी ही बार चाहा कि उन्हें लायें, पर वह कोई-न-कोई बहाना कर दिया करते थे। वह सब कुछ कर सकते थे, पर सुमन के सम्मुख आना उनके लिए अत्यन्त कठिन था।

सुभद्रा ने कहा, जरा गाड़ी रोक लो, इसे देखूँगी।

पद्मसिंह—आज बहुत देर होगी, फिर कभी आ जाना।

सुभद्रा—यहाँ कौन बहुत देर लगेगी, दस मिनट में लौट आयेंगे।

पद्म—तुम्हारी हठ करने की बुरी आदत है। कह दिया कि इस समय मुझे देर होगी, लेकिन मानती नहीं हो।

सुभद्रा—जरा घोड़े को तेज कर देना, कसर पूरी हो जायगी।

पद्म—अच्छा तो तुम जाओ, अब से सन्ध्या तक जब जी चाहे घर लौट आना। मैं चलता हूँ। गाड़ी छोड़े जाता हूँ। रास्ते में कोई सवारी किराये की कर लूँगा।

सुभद्रा—तो इसकी क्या आवश्यकता है। तुम यहीं बैठे रहो, मैं अभी लौट आती हूँ। उसके जी में तो आया कि पण्डितजी को खूब आड़े हाथों ले, पर साईस खड़ा था, इसलिए कुछ न बोल सकी। गाड़ी से उतरकर आश्रम में दाखिल हुई

वह ज्योंही बरामदे में पहुँची कि एक स्त्री ने भीतर जाकर सुमन को उसके आने की सूचना दी और एक क्षण में सुभद्रा ने सुमन को आते देखा। वह उस केशहीना, आभूषणविहीना सुमन को देखकर चकित हो गई। उसमें न वह कोमलता थी, न वह चपलता, न वह मुस्कराती हुई आँखें, न हँसते हुए होंठ। रूप-लावण्य की जगह पवित्रता की ज्योति झलक रही थी।

सुमन निकट आकर सुभद्रा के पैरों पर गिर पड़ी और सजल नयन होकर बोली, बहूजी, आज मेरे धन्य भाग्य हैं कि आपको यहाँ देख रही हूँ।

सुभद्रा की आँखें भर आयीं। उसने सुमन को उठाकर छाती से लगा लिया और गद्गद स्वर से कहा—बाईजी, आने का तो बहुत जी चाहता था पर आलस्यवश अब तक न आ सकी थी।

सुमन—शर्माजी भी हैं या आप अकेली ही आयी हैं?

सुभद्रा—साथ तो थे, पर उन्हें देर हो गयी थी, इसलिए वह दूसरी गाड़ी करके चले गये।

सुमन ने उदास होकर कहा, देर तो क्या होती थी, वह यहाँ आना ही नहीं चाहते थे। मेरा अभाग्य। दुःख केवल यह है कि जिस आश्रम के वह स्वयं जन्मदाता हैं, उससे मेरे कारण उन्हें इतनी घृणा है। मेरी हृदय से अभिलाषा थी कि एक बार आप और वह दोनों यहाँ आते। आधी तो आज पूरी हुई, शेष भी कभी-न-कभी पूरी ही होगी। वह मेरे उद्धार का दिन होगा। यह कहकर सुमन ने सुभद्रा को आश्रम दिखाना शुरू किया।

सुभद्रा को यहाँ का सुप्रबन्ध, शान्ति और कन्याओं का शील स्वभाव देखकर बड़ा आनन्द हुआ। उसने मन में सोचा, सुमन इतने बड़े आश्रम को अकेले कैसे चलाती होगी, मुझसे तो कभी न हो सकता। कोई लड़की मलिन या उदास नहीं दिखायी देती।

सुमन ने कहा, मैंने यह भार अपने ऊपर ले तो लिया पर मुझमें उसके सँभालने की शक्ति नहीं है। लोग जो सलाह देते हैं, वही मेरा आधार है। आपको भी जो कुछ त्रुटि दिखायी दे, वह कृपा करके बता दीजिए। इससे मेरा उपकार होगा।

सुभद्रा ने हँसकर कहा, बाईजी, मुझे लज्जित न करो, मैंने तो जो कुछ देखा है उसी से चकित हो रही हूँ, तुम्हें सलाह क्या दूँगी, बस इतना ही कह सकती हूँ कि ऐसा अच्छा प्रबन्ध विधवाआश्रम का भी नहीं है।

सुमन—आप संकोच कर रही हैं।

सुभद्रा—नहीं, सत्य कहती हूँ। अच्छा इनका विवाह कहाँ होगा?

सुमन—यह तो टेढ़ी खीर है। हमारा कर्त्तव्य यह है कि इन कन्याओं को चतुर गृहिणी बनने के योग्य बना दें। उनका आदर समाज करेगा या नहीं, मैं नहीं कह सकती।

इतने में १० लड़कियाँ सुन्दर वस्त्र पहने हुए आयीं और सुभद्रा के सामने खड़ी होकर मधुर स्वर से गाने लगीं।

हे जगत पिता, जगत प्रभू,
मुझे अपना प्रेम और प्यार दे।

तेरी भक्ति में लगे मन मेरा,

विषय कामना को बिसार दे।

सुभद्रा यह गान सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और लड़कियों को ५) इनाम दिया।

जब वह चलने लगी तो सुमन ने करुण स्वर से कहा—मैं इस रविवार को आपकी राह देखूँगी।

सुभद्रा—मैं अवश्य आऊँगी।

सुमन—शान्ता तो कुशल से है?

सुभद्रा—हाँ, पत्र आया था। सदन तो यहाँ नहीं आये?

सुमन—नहीं, पर २) मासिक चन्दा भेज दिया करते हैं।

सुभद्रा—अब आप बैठिए, मुझे आज्ञा दीजिए।

सुमन—आपके आने से मैं कृतार्थ हो गयी। आपकी भक्ति, आपका प्रेम, आपकी कार्यकुशलता, किस-किसकी बड़ाई करूँ। आप वास्तव में स्त्री समाज का शृंगार हैं। (सजल नेत्रों से) मैं तो अपने को आपकी दासी समझती हूँ। जब तक जीऊँगी आप लोगों का यश मानती रहूँगी। मेरी बाँह पकड़ी और मुझे डूबने से बचा लिया। परमात्मा आप लोगों का सदैव कल्याण करें।